DCEPH-101 (N)

धर्म दर्शन

खण्ड–1 धर्मदर्शन का स्वरुप

इकाई–1 धर्म, धर्मशास्त्र, धर्मदर्शन
इकाई–2 धर्म एवं नैतिकता,
इकाई–3 ईश्वर विहीन धर्म

खण्ड–2 धार्मिक विश्वास के आधार

इकाई–4 आस्था
इकाई–5 तर्क बुद्धि
इकाई–6 देवी प्रकाशना
इकाई–7 रहस्यानुभूति

खण्ड–3 ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

इकाई–8 सत्तामूलक युक्ति
इकाई–9 सृष्टिमूलक
इकाई–10 प्रयोजन मूलक युक्ति
इकाई–11 नैतिक युक्ति
इकाई–12 धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी युक्ति

खण्ड–4 अशुभ की समस्या

इकाई–13 अशुभ का अर्थ और वर्गीकरण
इकाई–14 अशुभ की समस्या का स्वरूप
इकाई–15 अशुभ की समस्या का समाधान
इकाई–16 अशुभ की समस्या का औचित्य

खण्ड–5 आत्मा की अमरता

इकाई–17 आत्मा की अमरता का अर्थ और वर्गीकरण
इकाई–18 आत्मा की अमरता हेतु तर्क

खण्ड–6 धार्मिक सहिष्णुता

इकाई–19 धर्म निरपेक्षतावाद
इकाई–20 सर्वधर्म समन्वय

खण्ड–1 धर्मदर्शन का स्वरुप

इकाई - 01

धर्म, धर्मशास्त्र, धर्म दर्शन

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 धर्म

1.3 धर्म शास्त्र

1.4 धर्म दर्शन

1.5 धर्मशास्त्र एवं धर्मदर्शन में तुलना

1.6 सारांश

1.7 बोध प्रश्न

1.8 उपयोगी पुस्तकें

----------000----------

1.0 उद्देश्य

धर्म मानवीय जीवन से अत्यंत गहराई से जुड़ा हुआ है। हर व्यक्ति या यूं कहें कि समाज में रहने वाला हर व्यक्ति कहीं ना कहीं धर्म से संबंधित है । धर्म शब्द के अभिप्राय को समझे बिना भी कहीं न कहीं हम इसका प्रयोग करते रहते हैं और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों परंपराओं क्रिया-कलापों इत्यादि का प्रयोग करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म की प्रकृति क्या है ? धर्मशास्त्र क्या होता है ? धर्मशास्त्र अन्य शास्त्रों से कैसे अलग है? धर्म और धर्मशास्त्र में क्या संबंध होता है? और धर्म- दर्शन क्या है? धर्म-दर्शन धर्म और धर्मशास्त्र से किस प्रकार पृथक है या संबंधित है ? क्या धर्म एक मनोदशा या अभिवृत्ति है? या कोई पूजा पद्धति अथवा क्रियाकलाप है ? इत्यादि संप्रत्ययों को हम समझने का प्रयास करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मानव का आदि काल से ही धर्म से अटूट सम्बन्ध रहा है। आज तक मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता को एक मौलिक स्वरूप प्रदान करने में सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका धर्म ने निभाई है। सामान्य अर्थ में धर्म मनुष्य मनुष्य की वह व्यापक अभिवृत्ति है जो उसके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है और किसी दैवीय या अति प्राकृतिक सत्ता में उसके विश्वास के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

वस्तुतः धर्म के व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में किसी एक परिभाषा के माध्यम से धर्म को स्पष्ट को स्पष्ट करना कठिन कार्य है। क्योंकि समय और क्षेत्र के अनुरूप धर्म की अलग-अलग परिभाषाएं प्रस्तुत की जाती रही है। जेम्स

एच ल्यूबा ने अपनी पुस्तक "A Psychological Study of Religion" में धर्मों की 50 से अधिक परिभाषाओं को उल्लेख किया है। इसलिए धर्म की एक सार्वभौम परिभाषा के बजाए हम उसे मूल तत्वों के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं।

1.2 धर्म

यदि हम व्यापक रूप से धर्म के स्वरूप को व्याख्यायित करें तो कुछ सामान्य तत्व हमें प्रत्येक धर्म में परिलक्षित होते हैं। उन मूल तत्वों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली वह व्यापक अभिवत्ति है जो सर्वाधिक मूल्यवान, पवित्र, सर्वत्र तथा शक्तिशाली समझे जाने वाले आदर्श और अलौकिक उपास्य विषय के प्रति अखण्ड आस्था एवं पूर्ण प्रतिबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है जो मनुष्य के दैनिक आचरण, तथा प्रार्थना, पूजा, पाठ आदि वाह्य कर्मकाण्ड में अभिव्यक्त होती है।

समकालीन धर्म दार्शनिकों द्वारा भी धर्म को नए रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। उनके अनुसार किसी निष्ठा के विषय के प्रति सम्पूर्ण आत्म बन्धन के आधार पर जीवन की समस्याओं की ओर सर्वव्यापक रीति से जो व्यक्ति को उन्मुख करे उसे धर्म कहा जा सकता है। एरिक फ्राम एवं क्रेनिक ब्लैक स्टोन आदि धर्म दार्शनिक उपर्युक्त परिभाषा से सहमत हैं। इस परिभाषा में किसी अतीन्द्रिय, अतिप्राकृत या अलौकिक सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है। यहां निष्ठा का विषय सदैव कोई आदर्श व्यक्ति या सिद्धांत हो सकता है। यह परिभाषा मानवतावादी धर्मि◌ं का प्रतिनिधित्व भी हो जाता है।

अन्ततः व्यापक अर्थ में कह सकते हैं कि धर्म वह सर्वव्यापक अभिवृत्ति है जो अलौकिक, आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था पर आधारित होती है एवं जिसके प्रति आत्मबन्धन एवं बचनबद्धता, उपासना तथा किसी पद्धति के द्वारा अभिव्यक्त एवं दृढ़ होती है।

जहां तक प्रश्न है शाब्दिक परिभाषा का हमें भारतीय एवं पाश्चात्य सन्दर्भ में अलग-अलग दृष्टिकोण मिलते हैं। भारतीय परम्परा में धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धि' नामक धातु से हुई है जिसका तात्पर्य धारण करना है। महाभारत में कहा गया है कि 'जो लोक को धारण करे वह धर्म है। अर्थात् धर्म वह है जो सम्पूर्ण समाज को संगठित रखता है। महर्षि कणाद के अनुसार धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक है। इसके अतिरिक्त धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में त्मयवहवचउ शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के रिलिजेयर शब्द से हुई है। लैटिन में इसका अर्थ बांधना होता है। इस प्रकार रिलीजन वह है जो मनुष्य तथा ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित करता है और मनुष्यों को परस्पर संगठित करता था बांधता है।

स्पष्ट है कि Religion शब्द का अर्थ संस्कृत के धर्म शब्द से अर्थ से भिन्न नहीं है। दोनों शब्दों का मूल अर्थ मनुष्यों को परस्पर बांधना या संगठित करना ही है। अर्थ मनुष्यों को परस्पर बांधना या संगठित करना ही है। इस दृष्टि से धर्म या रेलिजन सम्पूर्ण मानव समाज में एकता तथा संगठन स्थापित करने का साधन कहा जा सकता है।

धर्म के अभिप्राय को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने धर्म के विभिन्न पक्षों का उल्लेख किया है क्योंकि मनुष्य की व्यक्तिगत मनोदशा या अभिवृत्ति होने के साथ-साथ धर्म एक सामाजिक संस्था अथवा संगठन के रूप में भी प्राचीन काल से मानव जीवप को प्रभावित करता रहा है। पाश्चात्य चिंतक जैशिया रायस के अनुसार व्यावहारिक भावनात्मक एवं सैद्धान्तिक रूप से धर्म के तीन पक्ष सम्भव हैं। सामान्यतः धर्म हमें प्रेरणा देता है। हमें आगे बढ़ने का रास्ता दिखाता है, साथ ही हमारे भीतर आस्था उत्पन्न करके धर्म के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा देता है। इसी परिप्रेक्ष्य में हम कह सकते हैं कि धर्म का सम्बन्ध उच्चादर्शों एवं नैतिक मूल्यों से है। विश्व में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो नीतिविरोध आचरण की शिक्षा देता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सैद्धांतिक रूप से धर्म मूल्यों, आदर्शों एवं सिद्धांतों की स्थापना करता है एवं भावनात्मक रूप से मनुष्य में आस्था का संचार करता है। साथ ही यह क्रियात्मक या व्यावहारिक रूप से धर्मानुकूल आचार पद्धति को अपनाने की प्रेरणा देता है। धर्म मनुष्य के नैतिक आध्यात्मिक उन्नयन के लिए मार्गदर्शन भी करता है।

1.3 धर्म शास्त्र

धर्म के विषय में चिन्तन, चर्चा या विचार विमर्श को ईश्वर मीमांसा या धर्मशास्त्र कहा जाता है। दूसरे शब्दों में धार्मिक व्यक्ति जब अपने धर्म के गूढ़ विषयों पर चिन्तन और मनन करने लगता है तो उसे धर्मशास्त्री की संज्ञा दी जाती है। धर्म मीमांसा के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो अंग्रेजी में इसका समानार्थक शब्द ज्ीमवसवहल है जिसकी उत्पत्ति ज्ीमवे शब्द से हुई है जिसका अर्थ ईश्वर होता है। इसलिए धर्मशास्त्र को ईश्वर विज्ञान या ईश्वरमीमांसा कहा जाता है। किन्तु कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते इसलिए धर्म विषयक चिन्तन को ईश्वर विज्ञान के स्थान पर धर्म मीमांसा कहना अधिक समीचीन है। इसलिए धर्मशास्त्र को व्याख्यायित करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र वह विधा है जो किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों, मान्यताओं, पूजा पद्धतियों और विश्वासों को व्यवस्थित और सुसंगत व्याख्या करने का प्रयास करती है। यह परिभाषा ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों ही धर्मों का प्रतिनिधित्व करती है। धर्मशास्त्र में किसी विशेष धर्म से संबंधित धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या एवं विवेचना रहती है।

वस्तुतः देखा जाय तो धर्मशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य किसी धर्म के बारे में व्याप्त मिथ्या धारणा एवं भ्रम का निराकरण करना होता है। साथ ही यह दिखाना भी होता है कि उस धर्म के मूल सिद्धांतों एवं विश्वासों में कोई तार्किक असंगति नहीं है चूंकि धर्मशास्त्र का प्रमुख आधार आस्था होती है इसलिए धर्मशास्त्र में धार्मिक सिद्धांतों के प्रति संदेह नहीं किया जाता है बल्कि विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के पारस्परिक सुसंगत सम्बन्ध को प्रदर्शित करने का प्रयास होता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि धर्म शास्त्र का कार्य धार्मिक सिद्धांतों की परीक्षा या मूल्यांकन करना नहीं है बल्कि किसी विशेष धर्म के विषय में विचार विमर्श और उसके विरुद्ध उठायी जाने वाली आपत्तियों का निराकरण करना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में धर्मशास्त्री उस धर्म के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित मानकर चर्चा करते हैं।

1.4 धर्म दर्शन

धर्म का दार्शनिक पद्धति से विवेचन की ही धर्म दर्शन कहलाता ह। धर्म दर्शन को परिभाषित करते हुए प्रो0 ब्राइट मैन ने कहा है कि धर्म-दर्शन धर्म की बौद्धिक व्याख्या करते का प्रयास है। यह धर्म का सम्बन्ध अन्य अनुभूतियों से बताकर धार्मिक मनोवृत्तियों एवं आधारों का मूल्य स्पष्ट करता है। प्रो0 राइट के शब्दों में धर्म दर्शन धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों तथा विश्वासों की मूल विशेषताओं का सम्पूर्ण दृष्टि से विवेचन करता है। प्रो0 एडवर्ड के अनुसार धर्म दर्शन धार्मिक अनुभूतियों के स्वरूप, व्यापार, मूल्य तथा सत्यता की दार्शनिक खोज है।

स्पष्ट है कि धर्म दर्शन सुव्यवस्थित रूप से धर्म से सम्बन्धित समस्याओं, मान्यताओं, सिद्धांतों एवं विश्वासों का तर्कसंगत अध्ययन कर मूल्यांकन करता है।

मानव का आदिकाल से ही धर्म से अटूट सम्बन्ध रहा है। चूंकि धर्म का सम्बन्ध दर्शन से अत्यधिक निकट है इसलिए दर्शन में धर्म के तात्विक,नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का अध्ययन किया गया है। देखा जाय तो धर्म एवं दर्शन एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। धर्म का उद्भव श्रद्धायुक्त भय और आश्चर्य से हुआ है जबकि दर्शन की उत्पत्ति भी आश्चर्य के मानी गयी है।

उपर्युक्त समानता के बावजूद अन्तर यह है कि धर्म आश्चर्य की व्याख्या करने के बजाय श्रद्धा पर आधारित पूजा-पाठ इत्यादि क्रियायें करता है जबकि दर्शन आश्चर्य की बौद्धिक व्याख्या निष्पक्ष रूप से करता है इसलिए हम कह सकते है कि धार्मिक, भावना धार्मिक क्रिया एवं धार्मिक चेतना में निहित तत्वों की मीमांसा ही धर्म दर्शन है। अतः धर्मदर्शन धर्म के अध्ययन की एक विधि है जिसमें धर्म का दार्शनिक दृष्टि से तार्किक एवं बौद्धिक विवेचन किया जाता है।

धर्म दर्शन उन सभी अन्धविश्वासों की आलोचना करता है जिसके कारण धर्म के विभिन्न पक्षों में अतार्किकता एवं विसंगतियां आती हैं। धर्म दार्शनिक धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों एवं विश्वासों के मूल मान्यताओं पर सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं एवं धर्म का सम्बन्ध मूल तत्व से सुनिश्चित करते हैं।

धर्म दर्शन केवल धार्मिक सिद्धांतों का विश्लेषण नहीं करता बल्कि धार्मिक अनुभूतियों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का भी तुलनात्मक अध्ययन करता है। अन्ततः कह सकते हैं कि स्वतंत्र रूप से तर्क बुद्धि को एकमात्र ज्ञान की कसौटी मानकर धर्म की विवेचना करना ही धर्म दर्शन है।

जहां तक प्रश्न है धर्म दर्शन के स्वरूप का तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि धर्मदर्शन उन सभी विषयों का विवेचन करता है जिनका मनुष्य के धार्मिक जीवन से सम्बन्ध है तथा जिनपर तर्क संगत रूप से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ - धर्म का स्वरूप, मूल्य, धर्म का विकास, धर्म से सम्बन्धित तथा जिनपर तर्क संगत रूप से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- धर्म का स्वरूप, मूल्य, धर्म का विकास, धर्म से सम्बन्धित अनुभूतियां, कर्मकाण्ड, मान्यताएं, विश्वास, संस्थाएं आदि धर्म दर्शन के क्षेत्र में आते हैं। इस प्रकार धार्मिक जीवन से सम्बन्धित सभी पक्ष पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धर्म दर्शन की विषय वस्तु है।

1.5 धर्मशास्त्र एवं धर्मदर्शन में तुलना

धर्म दर्शन एवं धर्मशास्त्र मे महत्वपूर्ण अन्तर विषय वस्तु एवं दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। धर्म शास्त्र का क्षेत्र एवं विषयवस्तु अत्यन्त सीमित है और इसका दृष्टिकोण संकुचित होता है क्योंकि धर्मशास्त्र सदैव किसी धर्म विशेष का ही शास्त्रीय अध्ययन करता है। उदाहरण स्वरूप हम बौद्ध धर्म शास्त्र एवं इस्लाम धर्मशास्त्र को ले सकते हैं। इसके विपरीत धर्म दर्शन किसी विशिष्ट धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक परम्परा पर आधारित नहीं है। यह किसी धर्म विशेष की अपेक्षा धर्म के सामान्य अर्थ, उत्पत्ति, विकास एवं मूल्य का निश्चय करने की चेष्टा करता है।

धर्म दर्शन का प्रमुख कार्य धर्म के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना है। यह धर्म से सम्बन्धित मानवीय अनुभूतियों के सभी पक्षों का अध्ययन करता है किन्तु धर्मशास्त्र अपने विशेष धर्म से सम्बन्धित सिद्धांतों एंव अनुभूतियों का भी वर्णन करता है अथवा व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है इसलिए धर्मशास्त्र की अपेक्षा धर्म दर्शन का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। दोनों ही धर्म से संबंधित सामान्यांे पर विचार करते हैं तथापि इनके अध्ययन की विधि एवं लक्ष्य में अत्यधिक असमानता है।

विधि एवं लक्ष्य पर आधारित असमानता में प्रमुख आधार स्रोत है। धर्मशास्त्र में श्रुति, परम्परा, श्रद्धा, पूजा आदि धार्मिक ज्ञान के उच्चतम स्रोत माने जाते हैं। जबकि धर्म दर्शन में तर्क की कसौटी पर परीक्षण किए बिना किसी भी मान्यता को स्वीकार नहीं किया जाता। तर्क के अतिरिक्त किसी अन्य मान्यता को धर्म दर्शन में स्थान नहीं दिया जाता।

धर्मशास्त्र के अनुसार बुद्धि ज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है साध्य नहीं। श्रुति एवं दैवी प्रकाशना द्वारा प्राप्त धार्मिक सत्य का विवेचन एवं प्रतिपादन बुद्धि का मुख्य कार्य है किन्तु धर्म दर्शन में बुद्धि सर्वोपरि है। इसमें भावना आदि से नियंत्रित व सीमित न होकर बुद्धि पूर्णतया स्वतंत्र होती है। धार्मिक मान्यताओं का बौद्धिक विवेचन ही धर्म दर्शन का प्रधान कार्य है।

धर्मशास्त्री का दृष्टिकोण व्यवहारवादी एवं प्रयोजन वादी होता है। वह जिन धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। वे उसके धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं। मानव मूल्यांे के प्रति भी उसका दृष्टिकोण मूलतः प्रयोजनवादी ही होता है। किन्तु धर्म दार्शनिक न तो किसी धर्म या परम्परा विशेष के अनुयायियों के लाभ के लिए दार्शनिक विवेचन करता है और न वह किसी पारमार्थिक मूल्य इत्यादि के प्रति श्रद्धा ही रखता है वह धार्मिक सत्य व मूल्य का बौद्धिक विवेचन करने में पूर्ण स्वतंत्र। धर्मशास्त्री ऐसा उपदेशक है जो कि अपनी धार्मिक मान्यताओं का तार्किक प्रतिपादन करता है, किन्तु धर्मदार्शनिक वह जिज्ञासु है जो बौद्धिक विवेचन द्वारा धार्मिक सत्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। धर्मशास्त्र में केवल एक धर्म का उपदेश या अध्ययन होता है जबकि धर्मदर्शन में जिज्ञासु सभी धर्मों के सामान्य तथ्य की खोज करता है।

धर्म दर्शन धर्मशास्त्र और दर्शन के बीच स्थित है वह दार्शनिक दृष्टि से धर्म की आलोचना करता है दूसरी ओर धर्मशास्त्रों से धर्म की सामग्री प्राप्त करता है जबकि धर्मशास्त्रों से धर्मशास्त्र अपनी सामग्री विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत ही प्राप्त करता है। उस विशिष्ट धर्म से परे जाना धर्मशास्त्र की सीमा में नहीं है।

समानता

उपर्युक्त विभिन्नताओं के बावजूद धर्मशास्त्र एवं धर्म दर्शन एक दूसरे के पूरक भी हैं। धर्म दर्शन धर्म का बौद्धिक विवेचन करता है और धर्मशास्त्र धार्मिक मूल्यांे के प्रति विश्वास व्यक्त करता है। मूल्य की दृष्टि से यदि धर्मशास्त्र विश्वास को प्रमुख आधार मानता है तो इससे किसी प्रकार की भी हानि नहीं होती। धर्म दर्शन धर्म की कितनी भी बौद्धिक विवेचना करे किन्तु उसे मूल्यों में विश्वास करना अनिवार्य होता है। इनके मत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध आध्यात्मिकता का होता है। धर्म दार्शनिक आध्यामिकता को तर्क की कसौटी पर जीवन में स्थान देने का आग्रह करता है जबकि धर्मशास्त्र का आधार ही आध्यात्मिकता है।

1.6 सारांश

हम देखते हैं कि धर्मशास्त्र और धर्म- दर्शन में अनेक विभिन्नताएं हैं परंतु दोनों विरोधी नहीं कहा जा सकते दोनों धर्म से संबंधित है । तथापि दोनों के अलग-अलग उद्देश्य हैं। धर्मशास्त्र व धर्म दर्शन इन दोनों का ही संबंध बुद्धि व विश्वास से है परंतु धर्म दर्शन बुद्धि की ओर अधिक झुकाव रखता है जबकि धर्म दर्शन आस्था व विश्वास पर।

1.7 बोध प्रश्न

1. धर्म एवं धर्म दर्शन में क्या अंतर है?

2. धर्मशास्त्र एवं धर्म दर्शन में क्या अंतर है?

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई 2 - धर्म तथा नैतिकता का सम्बन्ध

Relationship between Religion and Morality

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध

2.3 क्या धर्म नैतिकता का अभिन्न अंग है

2.4 समीक्षा

2.5 क्या धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक है?

2.6 समीक्षा-

2.7 सारांश

2.8 बोध प्रश्न

2.17 उपयोगी पुस्तकें

----------000----------

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई में नैतिकता के अर्थ तथा उसके स्वरूप की विस्तृत विवेचना की गयी है। साथ ही इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि धर्म एवं नैतिकता के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों ने पूर्णत भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण कोणों से धर्म तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या की है, यद्यपि उसकी आलोचनात्मक मूल्यांकन भी किया गया है।

2.1 प्रस्तावना

मानव के सामाजिक जीवन को संचालित करने में धर्म तथा नैतिकता की भूमिका महत्वपूर्ण रही है विश्व में जो भी सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान दिखायी देता है, वह विकास धर्म तथा नैतिकता के बिना संभव नहीं है। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग सामान्य प्रालित अर्थ में ही है, अर्थात् धर्मशब्द का प्रयोग कर्तव्य या स्वकर्तव्यत्त न होकर मनुष्य की वह व्यपक अभिवृत्ति है, जो उसके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है। यह किसी दैवीय या अप्राकृतिक सत्ता से उसके विश्वास के फलस्वारूप उत्पन्न होती है।

वस्तुतः धर्म मनुष्य के जीवन के बौद्धिक संवेगात्मक एवं क्रियात्मक तीनों पक्षों को प्रभावित करता है। जहाँ तक प्रश्न है. नैतिकता की वह रीति-रिवाजों, मूल्यों एवं आदर्शों से सम्बन्धित वह सामाजिक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के वैयक्तिक कल्याण एवं सामाजिक हित है समायोजन हेतु मनुष्य के आचरण के नियमन, नियन्त्रण, मूल्यों की स्थापना एवं मार्गदर्शन करना है। नैतिकता को मनुष्य सामाजिक दबाव अथवा स्वयं अपनी इच्छा के कारण

स्वीकार करता है। सामान्यतया व्यावहारिक जीवन में नैतिहता के इसी स्वरूप को स्वीकार किया जाता है।

स्पष्ट है कि सामाजिक संख्या के रूप में नैतिकता मनुष्य के आचरण को नियमित करने के लिए कुछ नैतिक नियमों एवं मूल्यों को प्रस्तुत करती है, इस अर्थ मे अनुभूति का संवेदनात्मक पक्ष तथा मानवीय आचरण को नियमित करने वाला तत्व धर्म में भी होता है। इसलिए धर्म तथा नैतिकता का सम्बन्ध घनिष्ठ है तथा नैतिकता और धर्म किसी न किसी रूप में मनुष्य के संवेदनात्मक या भावनात्मक पक्ष से जुड़े होने के साथ ही सामाजिक जीवन से भी सम्बन्धित है

उपर्युक्त विवेचन पर समस्या उत्पन्न होती है कि यदि धर्म तथा नैतिकता दोनों का सम्बन्ध अटूट रूप से समाज में रहा है तो इस सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार होता है?

भारतीय चिंतन में इसके अन्तर्गत विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्या उपलब्ध नहीं होती क्योंकि अधिकतर भारतीयों ने धर्म एवं नैतिकता में मूलभूत अन्तर स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन में इसकी विशद् चर्चा मिलती है।

2.2 धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध

धर्म एवं नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना मुख्य रूप से पाश्चात्य विचारकों ने की है क्योंकि जहाँ तक भारतीय चिंतकों का प्रश्न है, वे अधिकांशतया धर्म एवं नैतिकता में भेद नहीं करते। मनु ने धर्म के जिन दस लक्षणों का उल्लेख किया है। उससे यह तथ्य स्पष्ट होता है। वस्तुता यदि धर्म को' स्वकर्तव्य पालन के अर्थ में लिया जाय तो मनु का मत उचित ही लगता है। पाश्चात्य विचारधारा में जिन विधारकों ने इस सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत किया है वे अधिकतर ऐसे विचारक है जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते है। उन्होंने धर्म का अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक शाश्वत, दयालु तथा न्यायशील ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास के अर्थ में लिया है। ये विचारक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते है तथा नैतिकता को पूर्णतया धर्म पर आधारित मानते है।-

उनके अनुसार धर्म के अभाव में नैतिकता संभव नहीं है धर्म के कारण ही हम समस्त नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों को स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति धर्म में आस्था नहीं रखता उसके लिए उन नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों का कोई महत्व नहीं हो सकता। उन दार्शनिकों के मतों का निहितार्थ यह है कि धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के जीवन में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म को ही नैतिकता का दिशा निर्देशक माना जाता है। कुछ पश्चिमी विचारक नैतिक नियमों को ईश्वरीय आदेश मानते है, जिनका उल्लंघन संभव ही नही है। इसी मत के समर्थन में जे०ई० स्मिथ ने लिखा है कि ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म में इस बात को स्वीकार करने में मतैक्य है कि धर्म के बिना नैतिकता अन्तता अनैतिकता है।... अन्तता अच्छे जीवन के विषय में कोई भी विचार, मनुष्य को क्या करना चाहिए इस संबंध में कोई भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त, मानव के अन्तिम लक्ष्य से सम्बंधित किसी विचार के बिना संभव नहीं है तथा यह विचार नैतिकता में धार्मिक तत्व का समावेश करता है। यह इस बात के सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण है कि नैतिकता धर्म के साथ अनिवार्यताः सम्बन्ध है।

ऐसी नैतिकता जो अपने से ऊपर किसी सत्ता पर आधारित नहीं है अनिवार्यताः भ्रष्टाचार में लिप्त होती जाती है क्योंकि वह अपने उपदेशों से परे किसी निर्णायक को स्वीकार नहीं करती। परन्तु जो नैतिकता धार्मिक स्वरूप वाले ईश्वरीय प्रेम पर वास्तव में आधारित है तथा जो ईश्वर की शक्ति को निर्णायक रूप में स्वीकार करती है, वह सिद्धान्तता ऐसे भ्रष्टाचार से बची रहती है। धर्म पर आधारित न रहने वाली नैतिकता के पास आत्मालोचन का कोई सिद्धान्त नहीं होता क्योंकि इसके मूल में कोई विश्वातीत अर्थात- ईश्वरवरीय अथवा आध्यात्मिक सन्दर्भ में नहीं होता जिसके द्वारा वह शासित हो सके और जो इसके विषय में निर्णय दे सके। यह एक सच्चाई है कि नैतिकता की विषयवस्तु को निर्धारित करने के अतिरिक्त धर्म इसका अन्तिम निर्णायक भी है धर्म नैतिक जीवन के लिए प्रेरणा

देता है तथा इसके साथ ही इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण वस्तु प्रदान करता है वह है नैतिक प्रयास की सार्थकता एवं उसका उद्देश्य, धार्मिक आस्था के साथ सजीव सम्बन्ध के अभाव में नैतिकता अनिश्चित एवं अपूर्त ही बनी रहती है। जब यह धर्म पर आधारित नही होती, तो उसके नष्ट होने का भय निरंतर बना रहता है। स्मिथ के अतिरिक्त कार्ल वार्थ, ऐमिल ब्रुनर, रीनोल्ड नेबुर आदि दार्शनिक नैतिकता को धर्म पर आधारित मानते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो उपरोक्त धारणा उचित नहीं है क्योंकि सामान्य अर्थ में धर्म को स्वीकार किये बिना थी मनुष्य नैतिकता के अनुरूप आचरण कर सकता है। नैतिक आचरण के लिए धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।

जो व्यक्ति किसी धर्म में आस्था नही रखता वह नैतिक हो सकता है क्योंकि उसका आचरण नैतिकता के प्रतिमानों के विपरीत है। एक धर्मनिरपेक्ष व्याक्ति या अधार्मिक व्यक्ति या अनीश्वरवादी पूर्णतया नैतिक व्यक्ति हो सकता है, पुनः धर्म को नैतिकता का आधार मानने से यह भी कठिनाई

उत्पन्न होती है कि प्रायः धर्म में जिस आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय या अलौकिक परमसत्ता या सर्वोच्च मूल्य को स्वीकार किया जाता है, उनको प्रमाणो द्वारा सिद्ध करने का प्रयास विवाद का विषय रहा है इस प्रकार यदि धर्म को नैतिकता का आधार माना जाय तो धर्म की विसंगतियां या कमियां नैतिकता को भी प्रभावित करती है

2.3 क्या धर्म नैतिकता का अभिन्न अंग है

धर्म तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उपरोक्त ईश्वरवादी मत के विरुद्ध लगायी गयी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए कुछ दार्शनिक ने नौनिकता को धर्म पर आधारित न मानकर स्वयं धर्म को ही नैतिकता का अभिन्न अंग मान लिया है। इन दार्शनिकों में मैथ्यू आनील्ड का नाम उल्लेखनीय है।-

- है उनके अनुसार धर्म संवेगों से सम्बन्धित नैतिकता है। इसी क्रम में हम ब्रेथवेट का नाम उद्धृत कर सकते है जिनके अनुसार धार्मिक कथन वास्तव में नैतिक कथनों से मूढहलत: भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक ही है तथा वह है आचरण नीति तथा जीवन पद्धति के विषय में वक्ता की प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करना। इस प्रकार उनके अनुसार धर्म वस्तुता नैतिकता से तथा स्वतंत्र होकर उसी का एक अपरिहार्य भाग मात्र है नैतिक मूल्यों आदर्शों अथवा नियमों के अभाव में धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

2.4 समीक्षा -

उपरोक्त ब्रेथवेट का मत पूर्णतया सत्य न होकर आंशिक रुप से ही सत्य है। नैतिकता धर्म का निश्चित रूप से अनिवार्य अंग है तथा उसके अभाव में मानव जीवन के लिए धर्म का महत्व बहुत कम हो जाता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नौतिकता से भिन्न धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। धर्म को नैतिकता का भाग नहीं माना जा सकता। धर्म में किसी आध्यात्मिक अतिप्राकृतिक या अलौकिक सत्ता में निश्चित रूप से आस्था रखी जार्ता है जबकि इसका नैतिकता से कोई संबंध ही नहीं है। धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे से निश्चित रूप से भिन्न है

एच डी. लेविस के मत का समर्थन करते हुए हम कह सकते है कि वस्तुता नैतिकता धर्म के लिए तथा धर्म नैतिकता के लिए समान रूप से अनिवार्य है- इन दोनों में कोई-कोई अंतर्विरोध नहीं है दोनों एक दूसरे से अनिवार्यतः सम्बद्ध है। लेविस का कथन है - यह माना जा सकता है कि धर्म तथा नैतिकता का एक दूसरे के लिए बहुत महत्व है। मैं इसी विचार का समर्थन करता हूं- भूतकाल में मनुष्यों के जीवन में धर्म किसी न किसी रूप में प्रमुख तत्व रहा है। और यदि इसके दावे में कोई सार है तो हमे यह आशा करनी चाहिए कि यह हमारे आचरण पर बहुत अधिक तथा दूरगामी प्रभाव डालता रहेगा। - इसी मत का समर्थन करने वाले विचारक नैतिकता एवं धर्म को एक दूसरे का पूरक मानते है। धर्म तथा नैतिकता के निकटतम सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले दार्शनिक यह मानते है कि नीति शास्त्र के मान्य सिद्धान्त धर्म के भी मान्य सिद्धांत है। नीति शास्त्र में ईश्वर की सत्ता, इच्छा की स्वतन्त्रता तथा आत्मा की अमरता को मुख्य पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा धर्म भी इन मान्यताओं को महत्वपूर्ण मानता है । दोनों ही सर्वोच्च मूल्य की धारणा में विश्वास करते है.

-

2.5 क्या धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक है?

उपर्युक्त विवेचनों के अतिरिक्त भी कुछ विचारकों ने धर्म तथा नैतिकता सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये। कुछ चिंतक धर्म तथा नैतिकता को एक दूसरे पर आधारित मानने के बजाये पृथक पृथक मानते हुए एक-दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार करते है।-

धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे की सहायता करते है अतः एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। तात्पर्य है कि धर्म में निहित कमियों को, नैतिकता दूर करके उसे पूर्णतः प्रदान करती है जबकि नैतिकता को सहज बनाने में अथवा आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने हेतु धर्म पूरक का कार्य करता है।

तात्पर्य है कि धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे पर आश्रित मात्र नहीं है बल्कि नैतिकता धर्म को परिमार्जित करती है तथा इसाई धर्म के दस कमाण्डे मेंट तथा भारतीय चिंतन के पंचमात्र व्रत नैतिक नियमों के उदाहरण है। इस सन्दर्भ में एटकिसन ली' कहते है कि नैतिकता धर्म की महान शोधक रही है इसने धर्म की समीक्षा करके उसे नैतिक बनाया है। उदाहरणार्थ ऋग्वैदिक काल में प्रचलित पशुबलि प्रथा में कमी आना।

धर्म तथा नैतिकता को एक दूसरे का पूरक मानने का समर्थन में महात्मा गांधी भी करते है, उनके अनुसार (यंग इंडिया) यह संभव ही नहीं है कि कोई क्रूर असत्यवादी तथा हिंसक प्रवृत्ति का हो तथा वह यह सोचे कि ईश्वर की कृपा उस पर होती है। गांधी जी सत्य का अनुशीलन तथा ईश्वर की प्राप्ति को समानर्थक मानते है। उनके अनुसार धर्म सत्य का निष्ठापूर्वक अनुशीलन है। ईश्वर ही सत्य है सत्य ही ईश्वर है। जिस प्रकार बीज जल से सिंचित होकर अंकुरित तथा पौधे के रूप में बढ़ता है उसी प्रकार नैतिकता भी धर्म से सिचिंत होकर फलती-फूलती है।

2.6 समीक्षा-

धर्म तथा नैतिकता के सम्बन्ध में यह मत पूर्णत: मुक्तिसंगत नहीं है। बिना धर्म के भी नैतिकता का पलायन किया जा सकता है। मानव आचरण का मूल्यांकन नियमन एवं मार्गदर्शन, धर्म के अभाव में भी संभव है। धर्म परायण व्यक्ति धार्मिक क्रियाकलापों के पालन में नैतिकता का उल्लंघन करता है जबकि कभी कभी नैतिकता के पालन में धार्मिक सिद्धातों की अवहेलना करनी पड़ती है। कुछ समीक्षक यहाँ तक कहते है कि यह एक दूसरे के पूरक होने के बजाय एक दूसरे के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त विकल्पों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि धर्म तथा नैतिकता न तो एक दूसरे पर आधारित है तथा न ही एक दूसरे के पूरक है। चिंतकों का यह भी मत है कि धर्म नैतिकता के लिए सहायक न होकर उसके लिए हानिकारक तथा बाधक है, क्योंकि यह परलोक तथा पलायनवाद' को प्रश्रय देता है जबकि नैतिकता का मूल दृष्टिकोण इलौकिक है । समाज के सदस्य के रूप में नैतिकता मूल कर्तव्यों को स्वेच्छा से पालन करने के लिए प्रोत्साहित करती है, जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होता है।

इस प्रकार यह विकल्प धर्म निरपेक्षता का समर्थन करता है जिसकी मान्यता है कि नैतिकता धर्म से स्वायत्त । स्वतन्त्र भी है तथा पृथक भी। नैतिक व्यवस्था तथा नैतिक नियमों का मूल स्त्रोत मानव समाज ही है कोई अलौकिक सत्ता नहीं। इसी सन्दर्भ में होलियोक एवं ब्रेडलाक द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्षतावादी सिद्धान्त ऐश्वर्य-विहीन नीतिकर्ता अथवा धर्म विहीन नैतिकता को स्वीकार करता है।

ईसी सन्दर्भ में नीत्से ने कहा है कि- ईश्वर चुका है तथा सात्र मानते है कि ईश्वर का मर जाना ही बेहतर है। उनके अनुसार यदि ईश्वर नहीं है तो हमारे व्यवहार को वैध ठहराने के लिए कोई मूल्य या आदेश उपलब्ध नहीं होगा तथा मनुष्य स्वतन्त्र निर्णय लेते हुए उत्तरदायित्व वहन करेगा। फ्रायड के अनुसार यदि धर्म तथा नैतिकता को अलग नही किया गया तो धर्म के कम प्रचलित होने पर नैतिकता के समाप्त होने का संकट उत्पन्न होगा।

इस मत का समर्थन भारतीय परिप्रेक्षा में मानवेन्द्र नाथ राय व नेहरू जैसे मानवतावादी चिंतक करते है। मानवेन्द्र नाथ मानते है कि वैज्ञानिकता का विकास के साथ ही धर्म आधारित व्याख्याएं मानवीय जिज्ञासाओं के सन्दर्भ में अर्थहीन हो जायेगी, इसलिए नैतिकता का माप दण्ड धर्म को नहीं बनाया जा सकता तथा इस प्रकार की

नैतिकता वाह्य आरोपित एवं धार्मिक कट्टरता को बढ़ासवा देती है। नेहरू के अनुसार धर्म ग्रन्थ ईश्वर को आधार मानकर वैज्ञानिक खोज में अड़चन डालते है एवं समाज सुधार में भी बाधा उत्पन्न करते है। इसलिए सामाजिक कल्याण हेतु धर्म-निरपेक्ष नैतिकता ठीक क है।

समीक्षा- उपरोक्त मत के पक्ष में आंशिक सत्यता अवश्य विद्यमान है किन्तु धर्म ने मनुष्य के स्वभाव में मानवीय सद्गुणों को उत्पन्न करने का अमूल्य प्रयास किया है। इस दृष्टि से धर्म ने नैतिकता को सहायता भी की है। समीक्षकों के अनुसार धर्म निरपेक्षता नैतिकता इस समस्या का समाधान नहीं कर पाती है कि व्यक्ति सदैव नैतिक क्यों रहता है? धार्मिक नैतिकता में व्यक्ति के दैवीय-क्रियाकलाप एक अन्तिम लक्ष्य से सम्बन्धित हो जाते है, जिसके सापेक्ष व्यक्ति अपने कर्मों का मूल्यांकन भी करता है। इसलिए काण्ट नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता को स्वीकार करते है जिसका सम्बन्ध मूलतः धर्म से है।

2.7 सारांश

धर्म तथा नैतिकता के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर अवश्य विद्यमान है कि दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर अवश्य विद्यमान है, जिसका कारण धर्म एवं नैतिकता की मूल संकल्पना में अन्तर होना है।

धर्म का केन्द्र अलौकिक सत्ता के प्रति आस्था है, जबकि नैतिकता का केन्द्र मनुष्य है। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते है कि सामान्य अर्थ में प्रचलित धर्म नैतिकता के लिए न तो अनिवार्य है न ही उसका आधार है फिर भी नैतिकता के बिना धर्म का अस्तित्व तो संभव है किन्तु नैतिकता से रहित धर्म, मानव जीवन में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता है।

2.8 बोध प्रश्न

1 क्या धर्म के बिना नैतिकता संभव है ?विवेचना कीजिए।

2 क्या नैतिकता के बिना धर्म संभव है परीक्षण कीजिए।

2.9 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई 3 - ईश्वर विहीन धर्म

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है ?

3.3 बौद्ध-धर्म के विचार

3.4 जैन दर्शन के विचार

3.5 मानवतावादी धर्म के विचार

3.6 समीक्षा

3.7 सारांश

3.8 बोध -प्रश्न

3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम विभिन्न धर्म की समझ के आधार पर आगे बढ़ते हुए ईश्वर विहीन धर्म की संभावनाओं का परीक्षण करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या वास्तव में समाज में ईश्वर विहीन धर्म स्थापित हो सकता है ? वह किस सीमा तक सफल हो सकता है ? और ईश्वर विहीन धर्म की किस प्रकार से हमारे समाज में उपयोगिता है ? क्या ईश्वर विहीन धर्म एक प्रचलित धर्म के रूप में स्थापित हो सकता है? क्या वर्तमान में कुछ ईश्वर विहीन धर्म वास्तव में प्रचलित हैं ? ईश्वर विहीन धर्म की प्रकृति क्या है ? इन धर्मों की कमियां क्या हैं ? या क्या ईश्वर विभिन्न धर्म अन्य प्रचलित धर्म की अपेक्षा अधिक सुसंगत है ? नैतिक है? अथवा नैतिकता को प्रश्रय देने वाला धर्म है?

3.1 प्रस्तावना

प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर धर्म का केन्द्र बिन्दु है तथा धर्म मूलस्वरूप में मानव की ईश्वर के प्रति प्रतिक्रिया है। प्रो० क्विण्ट की दृष्टि में ईश्वरवाद धर्म का पर्याय है। इसी प्रकार गैलवे के अनुसार धर्म मनुष्य से परे एक शक्ति में विश्वास है जहाँ वह अपनी रागात्मक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है, जिसे वह पूजा तथा सेवा के कार्यों में अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार जेम्स मार्टिन्यू के अनुसार धर्म एक चिस्तन ईश्वर में विश्वास तथा उसकी आराधना है। यह वह अतिमानस तथा दैवी संकल्प है जो अखिल ब्रह्माण्ड पर शासन करता है तथा मानवता को नैतिक सूत्रों में अनुबिद्ध करता है।

उपरोक्त धर्म दार्शनिकों के मत से यह धारणा, पुष्ट होती है कि धर्म में ईश्वर का विशिष्ट स्थान है। विशेष उपासना स्थल पवित्र उग्रन्थ, प्रार्थना अथवा पूजा पाठ सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अनुष्ठान धर्म के महत्वपूर्ण अंग है। धर्म में मानव ईश्वर का ज्ञान रखता है। ईश्वर के प्रति मनुष्य निर्भरता, श्रद्धा, प्रेम, आत्मसमर्पण आदि की भावनाओं का प्रकाशन करता है। धर्म में मनुष्य धर्माचरण के द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। धर्म के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पहलू किसी न किसी एक में ईश्वर की अपेक्षा करते है। ईश्वर के अभाव में मनुष्य की धार्मिक भावनाएं क्रियाएं तथा क्रियात्मक पहलुओं की प्रामाणिकता ही नष्ट हो जाती है।

3.2 क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है ?

धर्म में ईश्वर की मान्यता की अनिवार्यता के प्रश्न पर विचारकों में काफी मतभेद पाया जाता है। क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है? ईश्वर में विश्वास धर्म के लिए कितना आवश्यक है? धर्म में ईश्वर सम्बन्धी मान्यता क्यों अनिवार्य है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें ते बिन्दुओं पर विचार करना होगा|

- एक तो धर्म के इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी तथा दूसरे धर्म के स्वरुप का विवेचन करना होगा। सर्व प्रथम यह विचार करना होगा कि प्राचीन काल से अब तक विश्व में जो धर्म प्रचलित रहे है उनमें ईश्वर का स्थान क्या रहा है। क्या कुछ ऐसे धर्म पाये जाते हैं, जिनमें ईश्वर की मान्यता का अभाव है ? दूसरे बिन्दु में हमें धर्म के स्वरुप में निहित उन तत्वों का पता लगाना होगा जो धर्म को अनिवार्यता ईश्वर में विश्वास को ओर जाते है क्या धर्म का स्वरुप कुछ ऐसा है कि वह ईश्वर में विश्वास के बिना जीवित नही रह सकता ?

मानव इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हमें धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध के बारे में तीन प्रकार के उदाहरण मिलते है। एक ओर पश्चिमी एशिया के पैगम्बरसादी धर्मी में प्रचलित ईश्वरवाद है तो उसके विपरीत सुदूर पूर्व के धर्मो में ईश्वर की मान्यता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इन दोनों के मध्य में भारतीय परम्परा में ईश्वर का स्थान है किन्तु ईश्वरवाद नहीं। प्रथम परम्परा में ईश्वर प्रधान है। इसमें यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम धर्म सम्मिलित है। दूसरा दृष्टिकोण चीन, जपान तथा कोरिया की परम्परा में विकसित हुआ है, जहाँ ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। भारतीय धर्मो में ईश्वर शब्द का प्रचलन होते हुए भी ईश्वरवादी मान्यता का अपेक्षाकृत अभाव पाया जाता है।

वस्तुता धर्म में ईश्वर का महत्व की विवेचना इस बार पर निर्भर है कि हम ईश्वर शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। यदि हम ईश्वर की पैंगम्बरवादी अवधारणा स्वीकार करते है तथा ईश्वर को संहारकर्ता, सृष्टिकर्ता पालनकर्ता के रूप में मानते है, तो ऐसा ईश्वर धर्म के लिए अनिवार्य नहीं। विश्व में ऐसे कई धर्म है। जिनमें ऐसे ईश्वर की मान्यता नहीं पायी जाती। सुदूर पूर्व की कई संस्कृतियों में ईश्वर शब्द का ही प्रचलन नहीं है। वाओ, कन्फ्यूसियन, तथा शिन्टो धर्म में ईश्वर को अवधारणा का सर्वथा अभाव है।

'ईश्वर' शब्द की परम्परागत अवधारणा का मुख्य स्त्रोत पैगम्बरवादी धार्मिक परम्परा है। एक व्यक्तित्वपूर्ण सर्वगुण सम्पन्न, विश्व विधाता ईश्वर की मान्यता बाइबिल के धर्मो में स्वीकार की गयी है। सर्वप्रथम हजरत अब्राहम को ऐसे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हुआ जो बाद में एकेश्वरवादी धर्मो में विकसित हुआ। ऐसे ईश्वर की अवधारणा भारतीय धर्मों मे पूर्णतया स्वीकार नहीं की गयी। बौद्ध-जैन जैसे धर्मों में कर्म की प्रधानता दी गयी है तथा वैदिक धर्मों में भी व्यक्तित्व सम्पन्न ईश्वर की अवधारणा स्पष्टता विकसित नहीं हुई।

- अधिकांश भारतीय धर्मो में ईश्वर, जगत तथा जीव की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है, जो पैगम्बरवादी मान्यता से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त में स्वीकृत सर्वेश्वरवाद ईश्वर को महत्वहीन बना देता है। अद्वैतपरक दृष्टिकोण में ईश्वर मायिक तथा मिथ्या प्रतीत होता है। वह केवल सापेक्ष सत्य है, निरपेक्ष नहीं। सांख्य एवं मीमांसा जैसे सम्प्रदायों में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। योग में भी ईश्वर को मात्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य साधनों के समान ईश्वर की मान्यता भी योग सिद्धि में सहायक होती है।

इस प्रकार इतिहास के निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि विश्व में ऐसे कई धर्म है, जिनमें ईश्वर की मान्यता स्वीकार नहीं की गयी है। पैगम्बरवादी धर्मो को छोड़कर विश्व के अधिकांश धर्मया तो ईश्वर को नगण्य मानते है, अथवा अपेक्षाकृत कम महत्व देते हैं। वस्तुता एकमात्र ईश्वरवादी परम्परा का आधुनिक विकास भी परम्परागत ईश्वर के निषेध के रूप में हुआ है। आगस्त काम्टे के मतानुसार आधुनिक (ईसाई) मानव जगत तथा ईश्वर, विश्व विश्वातीत पृथ्वी स्वर्ग के , द्वन्द को पूर्णतया त्याग चुका है। आज वैज्ञानिक शोध के परिणामस्वरूप ईश्वर सम्बन्धी पुरानी मान्यताएं व्यर्थ तथा अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी है-

जब उस जगत' तथा अलौकिक का विचार निरर्थक है, ब्रह्माण्ड की घटनाओं, ग्र हों तथा नक्षत्रों के बारे में भविष्यवाणी तथा उन-पर नियन्त्रण विज्ञान में संभव कर दिया है।

बाइबिल की ईश्वर वादी परम्परा में ईश्वर का निषेध कहीं-कहीं उग्ररूप धारण कर चुका है। एडाल्फ बुल्टमान ने स्पष्ट किया कि ईश्वर जैसे निरंकुश शासक की पैराणिक गाथा को त्याग कर एक ऐसी नयी पौराणिकता का विकास करना होगा जो शासक की मान्यता से रहित हो। विश्वातीत तथा वहाँ की अपेक्षा यहाँ विश्व के सन्दर्भ में उसकी व्याख्या होनी चाहिए। यदि उस पार' का ज्ञान 'इसपार' के द्वारा नहीं हो सकता, यदि विश्वातीत' की कल्पना ही निराधार है। दैवी प्रकाशना अथवा श्रुति के द्वारा भी यह ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। यास्पर्स के अनुसार उसपार अथवा विश्वातीत सम्बन्धी मिथक वस्तुता एक निराधार एवं अनधिकृत चेष्टा है। दित्य चक्षु तीसरा नेत्र (x-ray vision) तथा अन्तः प्रज्ञा जैसी अतीन्द्रिय दृष्टि होने का दावा भी विवादास्पद है। वास्तव में ईश्वर का ज्ञान असंभव है न तो इसका कोई लौकिक अर्थ है न सन्दर्भ, न अनुभव व संकेत होता है।

अगर भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में बात की जाय तो भारतीय दर्शन में अनेक धर्म ऐसे प्राप्त होते है, जिनमें ईश्वर का अभाव है। इन धर्मों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु ईश्वर का खण्डन किया गया है। इसलिए ऐसा सोचना अनुचित एवं असंगत है कि ईश्वर के बिना धर्म संभव नहीं है।

ईश्वर विहीन धर्मो में मुख्यता बौद्ध-धर्म, जैन धर्म, मानवतावादी धर्म आदि सम्मिलित है। इन्हे 'अनीईश्वरवादी धर्म' भी कहा जाता है।

3.3 बौद्ध-धर्म के विचार

बौद्ध धर्म विश्व के प्रचलित धर्मो में महत्वपूर्ण स्थान रखता है परन्तु यह ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। भगवान बुद्ध ने अनित्यवाद या क्षणभंगवाद का प्रणयन करते हुए अपरिवर्तनशील, नित्य तथा शाश्वता ईश्वर को अनित्य एवं परिवर्तनशील विश्व का रचयिता मानने से इन्कार किया है। यदि नित्य ईश्वर विश्व का सृष्टा या निर्माता है तो विश्व में परिवर्तन एवं विनाश का अभाव होना चाहिए। ऐसी अवश्या में विश्व में भी नित्य शाश्वत, अपरिवर्तनशील तथा अपरिणामी होना चाहिए व्यवहार में हम देखते है कि विश्व आप परिवर्तनशील है विश्व की ओर देखने से हमे विश्व को शुभ अशुभ, सुख-दुख के अधीन पाते है। ईश्वर को पूर्ण तथा शुभ भी नहीं माना जा सकता क्योंकि शुभ ईश्वर को विश्व में व्याप्त अशुभ का रचयिता नहीं माना जा सकता है।

3.4 जैन दर्शन के विचार

बौध्द दर्शन की तरह जैन दर्शन भी ईश्वर विहीन धर्म माना जाता है। साधारणतया ईश्वर को जगत का सृष्टा माना जाता है। यदि ईश्वर जगत का सृष्टा है तो प्रश्न उठता है कि किस प्रयोजन से विश्व का निर्माण करता है। सामान्य तथा चेतन प्राणी जो भी कर्म करता है, वह स्वार्थ से प्रेरित होकर करता है या दूसरों पर करूणा प्रदर्शित करने के लिए करता है। अतः चेतन ईश्वर को भी स्वार्थ तथा करूणा से प्रेरित होना चाहिए। ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह पूर्ण है। उसका स्वार्थ नहीं है। इसके विपरीत यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि करूणा से प्रभावित होकर ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया, है क्योकि सृष्टि के पूर्व करुणा का भाव उदय हो ही नहीं सकता। करुणा का अर्थ है दूसरों के दुख दूर करने की इच्छा । परन्तु सृष्टि के पूर्व दुःख की विद्यमानता को मानना अनुपयुक्त तथा असंगत है। इस प्रकार जैन धर्म विभिन्न युक्तियों से ईश्वर उत्तर की सत्ता का खण्डन करता है।

जैन धर्म में ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में नैयायिकों द्वारा प्रदत्त युक्तियों का खण्डन भी प्राप्त होता है। प्रत्येक कार्य के लिए कर्ता की अपेक्षा की जाती है।

उदाहरणार्थ गृह एक कार्य है, जिसे कर्ता ने बनाया है उसी प्रकार विश्व एक कार्य है, जिसके स्रष्टा का होना आवश्यक है वह ईश्वर है। - ऐसा नैयायिकों का मत है। जैन धर्म इस युक्ति को दोवपूर्ण मानता है। क्योंकि इसमें पहले से ही यह मान लिया कि संसार एक कार्य है। नैयायिक जैन धर्म के इस आक्षेप का यथोचित उत्तर न दे पाये।

यद्यपि सैद्धान्तिक रुप से जैन धर्म में ईश्वर का खण्डन हुआ है फिर भी व्यावहारिक रुप में जैन धर्म में ईश्वर का विचार किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है।

जैन धर्म में ईश्वर के स्थान पर तीर्थकरों को माना गया है जो मुक्त है। इसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन। अनन्त वीर्य तथा अनन्त आनन्द निहित है। जैन योग महात्माओ तथा अपने तीर्थकरों की मूर्तियां बनाकर भी

पूजा करते हैं। पूजा, प्रार्थना, धर्म, श्रद्धा तथा भक्ति में जैनियों की पर्याप्त विश्वास है। इस प्रकार में ईश्वर की सत्ता नकारते हुए भी तीर्थकरों को ईश्वर के रुप में स्वीकार करते है क्योंकि उनका मानना है कि तीर्थकरों द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

3.5 मानवतावादी धर्म के विचार

अनीश्वरवादी धर्मों के अन्तर्गतमाननीय धर्म या मानवतावादी धर्म को भी सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार की धार्मिक विचार धारा- का समर्थन करने वाले पश्चिमी विचारकों में काम्टे तथा भारतीय विचारक रविन्द्रनाथ ठाकुर तथा विवेकानन्द प्रमुख है। टैगोर की मान्यता है कि मानव ससीम तथा असीम की समष्टि है। शारीरिक दृष्टि से मानव ससीम है परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से असीम है। इस प्रकार के धर्म में मानवता की पूजा की जाती है। काम्ते के अनुसार धर्म का केन्द्र विंदु मानव है तथा धर्म का इतिहास मानव के विकास का इतिहास है। मानव का अस्तित्व असन्दिग्ध है। इस प्रकार मानव को आराधना का विषय मानने से धर्म के पहलुओं की पुष्टि हो जाती है। मानव के साथ मानव धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई की अनुभूति नहीं करता है। काम्ते ने कहा है कि यह ऐसा धर्म है जो कला के सौन्दर्य से ओत-प्रोत है तथा विज्ञान के साथ असंगत नहीं है। मानव धर्म में मानव को ही पूजा होती है न कि किसी पारलौकिक सत्ता की प्रो0 हिंगल पैतीसन ने' 'Idea of God' मे कहा है कि मानव की पूजा को स्वीकार कर लेने से ईश्वर की सत्ता का खण्डन हो जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त उद्धृत तीनों धर्म-

बौद्ध धर्मी जैन धर्म तथा मानव धर्म ईश्वर विहीन धर्म है क्योंकि इन तीनों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों धर्मो को किन आधारों पर धर्म के रुप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम कह सकते है कि उन्हें धर्म की संज्ञा इसलिए दी जाती है क्योंकि इन धर्मों का मूल्यों से अनियोज्य सम्बन्ध है। हाफडिंग महोदय ने धर्म को पारिभाषित करते हुए कहा है कि धर्म मूल्यों की संरक्षा में विश्वास है अर्थात् धर्म समस्त मानवीय तथा सामाजिक मूल्यों की रक्षा करता है तथा उनको पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करता है।

3.6 समीक्षा

1. इस प्रकार ईश्वर विहीन धर्म स्वयं ईश्वर से पृथक करने का दावा करते है किन्तु विचारणीय है कि बिना ईश्वर के धर्म सम्भव है? यहाँ गहनता से धर्मों का मूल्यांकन करने से दृष्टत्य होता है कि प्रत्येक ईश्वर विहिन धर्म में किसी न किसी प्रकार से ईश्वर या इसके सादृश्य सर्वशक्तिमान सत्ता की कल्पना की गयी है, जिसका कारण मनुष्य की आपूर्णता तथा सीमितता है जब मनुष्य सांसारिक संघर्षो, आपदाओं अथवा दुखों से घबरा जाता है तब वह ईश्वर या ईश्वर तुल्य सत्ता की अपेक्षा करता है।

2. धर्म के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं संवेज्ञात्मक पक्ष की संतुष्टि हेतु ईश्वर जैसी सत्ता अनिवार्य है धार्मिक आस्था के स्वरूप की विशिष्टता बताती है कि इसकी उत्पत्ति सामान्य सांसारिक वस्तुओं में नहीं हो सकती है यह आस्था अलौकिक आदर्शों व तत्वों में ही उत्पन्न होती है। धर्म में भावनात्मक निर्भरता, अलौकिकता द्वारा ही सम्भव है जिससे उपासक, भावनात्मक रूप से उपास्य से सम्बन्ध बनाता है। पुनः मनुष्य की संवेगात्मक सन्तुष्टि केवल व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर द्वारा सम्भव होती है जिसका प्रमाण यह है कि विश्व के अधिकतर लोक- प्रिय धर्म का केन्द्रीय तत्व ईश्वर है।

3. यदि हम निरीश्वरवादी धर्मों पर विचार करें तो बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया जबकि हीनयान धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो सका। जैन धर्म में आचार्य, मुनि,

अर्हत, उपाध्याय एवं साधु पंच परमेष्ठी है जोकि ईश्वर के समान महत्व रखते है। मानववाद का धर्म के रूप में प्रचलित न होना यह सिद्ध करता है कि धर्म में ईश्वर का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

3.7 सारांश

वस्तुतः धर्म को कुछ मूल्यों तक सीमित करते व्यवस्थित नहीं कर सकते यद्यपि धर्म का आदर्श केवल काल्पनिक या सम्भाव्यशक्ति नहीं बल्कि वास्तविक या अनिवार्य मूल्य अपना आदर्श है फिर भी गैल्वे के इस मत से असहमत होना कठिन है कि धर्म मानव द्वारा किसी न किसी परम शक्ति में विश्वास है जिसके द्वारा वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा जीवन में स्थिरता प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस तरह ईश्वर विहिन धर्म में भी मनुष्य के आन्तरिक जीवन को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक परम शक्ति की मान्यता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते है कि जहाँ तक धर्म के स्वरूप का सम्बन्ध है, सैध्दांतिक रूप से विश्व में अनेक ईश्वर विहीन धर्म अस्तित्व में रहें है किन्तु जहाँ तक धर्म के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है अधिकतर धर्मों ने किसी न किसी रूप में पारलौकिक था आध्यात्मिक ईश्वर सादृश्य सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते हैं -

3.8 बोध -प्रश्न

1. ईश्वर विहीन धर्म की संभावनाओं की विवेचना कीजिए।

2. कुछ प्रमुख ईश्वर विहीन प्रचलित धर्म का उल्लेख करिए एवं समाज में उनकी स्वीकार्यता की संभावनाओं का परीक्षण कीजिए।

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

खण्ड–2 धार्मिक विश्वास के आधार

इकाई 4- आस्था

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अर्थ एवं परिभाषा

4.3 अस्था एवं विश्वास

4.4 आस्था एवं ज्ञान faith and knowledge

4.5 आस्था की विशेषताएं

4.6 प्रमाण

4.7 समीक्षा

4.8 सारांश

4.9 बोध- प्रश्न

4.10 उपयोगी पुस्तकें

----------000--------

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई धार्मिक विश्वास के एक आधार के रूप में आस्था की विस्तृत चर्चा की गई है इकाई में आस्था एवं विश्वास आस्था एवं ज्ञान के मध्य विभेद को भी स्पष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में आस्था कितनी सफल प्रतीत हुई है का भी आलोचनात्मक विवरण दिया गया है

4.1 प्रस्तावना

धर्म संबंधी विश्वास को धार्मिक विश्वास के रूप में अभिहित किया जाता है। धार्मिक विश्वास के अंतर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास आत्मा की अमरता में विश्वास मृत्यु प्रांत जीवन में विश्वास पुनर्जन्म में विश्वास मोक्ष की धारणा में विश्वास आदि सम्मिलित हैं ब्लैक स्टोन ने धार्मिक विश्वास की परिभाषा निम्न प्रकार से की है। ,किसी निष्ठा के विषय के प्रति संपूर्ण प्रतिबद्धता की धार्मिक विश्वास है। धर्म दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वास के चार आधारों का उल्लेख किया है,आस्था, देवीउपासना ,तर्क बुद्धि तथा रहस्यानुभूति।

4.2 अर्थ एवं परिभाषा

आस्था को पराया धार्मिक विश्वास का आधारभूत स्तंभ माना जाता है। प्रायः इसका प्रयोग विश्वास ,श्रद्धा, निष्ठा आदि अर्थों में होता है। प्रोफेसर बाइटमैन ने आस्था को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है।

1 आस्था श्रुति की स्वीकृत के रूप में प्रस्तुत होती है।

2 आस्था को ईश्वरीय दिन के रूप में भी अभिहित किया जाता है।

3 आस्था को विश्वास के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है आस्था को विश्वास या आसाकारिता के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

आस्था व्यक्तित्व के सक्रिय पक्ष का द्योतक है। आस्था वह प्रक्रिया है जिसमें हमें आध्यात्मिक तत्व के साक्षात्कार होता है। साधु संतों में भी प्राय यही नियम देखा जाता है। एक्विनास के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रकाशित सत्यो की विश्वासपूर्ण स्वीकृति ही आस्था है। यह स्वीकृत एक ऐसी वैकल्पिक प्रक्रिया है जो भविष्यवाणी तथा चमत्कार जैसे वहां बाहन प्रमाणों एवं संकेतो द्वारा प्रेरित होती है। आस्था के वैकल्पिक पक्ष पर विशेष महत्व देते हुए विलियम जेम्स इससे धार्मिक ज्ञान में केंद्रीय स्थान देते हैं। आस्था केवल व्यावहारिक किया सैद्धांति नहीं होती है।

यद्यपि इसमें सैद्धांतिक सत्यता निहित है तथापि यह सत्यता बौद्धिक तर्क की अपेक्षा व्यवहारिकता पर आधारित है आस्था का तथ्यों से उतना ही संबंध है जितना तथ्यों का मूल्य से होता है विकसित आस्था में आस्था स्थाई बौद्धिक दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व को पूर्ण प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होती है।

4.3 अस्था एवं विश्वास

समान्यता आस्था एवं विश्वास को एक मान लिया जाता है पर यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। आस्था में संपूर्णता गहनता तथा तीव्रता होती है जबकि विश्वास बौद्धिक होने के कारण आस्था की तरह स्थाई नहीं होता है। आस्था हृदय परक है तो विश्वास बुद्धि परक है आस्था का विषय आंतरिक है जबकि विश्वास के विषय आंतरिक एवं बाय दोनों है। आस्था स्थाई तथा अपरिवर्तनशील है जबकि विश्वास का परित्याग नहीं किया जा सकता है परिणाम स्वरुप यह अस्थाई तथा परिवर्तनशील होता है। आस्था में आत्मसंलनता तथा सहभागिता का भाव बना रहता है इसलिए व्यक्ति इसमें तटस्थ नहीं रह पाता है जबकि विश्वास में व्यक्ति तटस्थ बना रह सकता है। आस्था जहां व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है वहीं पर विश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व को उतना प्रभावित नहीं कर पता है।

Encyclopedia of religion and ethics मैं विश्वास को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है विश्वास आश्वासन एवं दृढ़ धारणा की मानसिक स्थिति है। यह अपने आंतरिक अनुभूतियों के प्रति मन की वह मनोवृति है जिसमें वह अपने द्वारा निर्दिष्ट वास्तविकता को यथार्थ महत्व या मूल्य के रूप में स्वीकृत तथा समर्पित करता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विश्वास तर्कणा से परिपूर्ण है और वास्तविकता के प्रति आसाकारिता का भाव पाते हैं।

विश्वास का विभाजन belief in तथा belief that के बीच किया गया है। किसी मनुष्य अथवा ईश्वर की सत्ता में विश्वास belief in कहा जाता है जबकि किसी कथन अथवा प्रतिशप्ति में विश्वास belief that kaha जाता है।

इन दोनों प्रकार के विश्वास के मूल अंतर यह है कि belief in तर्कना से परे है परंतु belief that मैं युक्ति एवं तर्क के लिए समुचित स्थान है इस प्रकार bilief in आस्था के समकक्ष माना जा सकता है आस्था तथा विश्वास में से विश्वास आस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

4.4 आस्था एवं ज्ञान faith and knowledge

आस्था एवं ज्ञान में कुछ अंतर होते हुए भी वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। प्रायः गलत रूप में ही प्रयोग किए जाने पर दोनों पर विरोध उत्पन्न होता है और जो विचारक आस्था के विरुद्ध ज्ञान का पक्ष लेते हैं वह यह मान लेते हैं कि जब आस्था ज्ञान की विरोधी प्रकट होती है तो केवल वही गलत होती है। जो व्यक्ति आस्था के पक्ष में ज्ञान का बहिष्कार करते हैं वह भी गलती करते हैं। एक ओर वे आस्था को महत्व देते हैं तो दूसरी ओर सत्य संबंधी दावे भी करते हैं वास्तव में दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी तथा अतिवादी है। न ज्ञान आस्था का स्थान ले सकता है नहीं आस्था ज्ञान तथा आस्था दोनों ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो जीवन में विकसित होती है। दोनों की उत्पत्ति प्रयोजन मूलक होती है। ज्ञान का संबंध समन्वय तथा सामंजस्य की प्रक्रिया है इसके द्वारा विभिन्न तथ्यों के परस्पर संबंध की व्याख्या एवं

सामान्यकरण किया जाता है। आस्था ज्ञान की सीमा से बद्ध नहीं रह सकती जहां तक ज्ञान प्रत्येक कार्य का पथ प्रदर्शक है उसका अनुसरण करना आवश्यक है। किंतु ज्ञान का अनुसरण करने की इच्छा स्वयं एक प्रकार की आस्था है। अतेव आस्था ही ज्ञान का आधार है। धर्म के अतिरिक्त ऐसे कई अवसर है जहां त्याग श्रद्धा आदि की प्रेरणा मिलती है। इन अवसरों पर आस्था ज्ञान के संरक्षण को त्याग देती है।

क्रांतिकारी देशभक्त समाज सुधारक तथा परोपकारी व्यक्ति प्रायः असफलता एवं निराशा के मध्य भी अपने उद्देश्य में आस्था रखते हैं। यद्यपि ज्ञान प्रतिकूल परिणाम की ओर संकेत करता है किंतु आस्था उन्हें निरंतर संघर्ष की प्रेरणादेती है।

ज्ञान तथा आस्था एक दूसरे के विरोधी नहीं जो व्यक्तिगत रुचि आस्था में प्रमुख स्थान रखती है वह ज्ञान का भी पथ प्रदर्शन करती है। ज्ञान स्वयं आस्था द्वारा उत्तेजित होता है तथा आस्था में ही समाप्त होता है। दोनों अनुभूत विश्व के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं अतएव दोनों ही प्रयोजनमूलक होते हैं जो एक दूसरे के लिए महत्वपूर्ण है वह अंत में दूसरे के लिए भी महत्वपूर्ण होता है।

4.5 आस्था की विशेषताएं

आस्था किसी विचार, आदर्श, मूल्य व्यक्ति या कथन में मनुष्य का वहदृढ़ विश्वास है जिसे वह पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणो के ना होते हुए भी पूर्णतः स्वीकार करता है तथा जिसमें कुछ अनिश्चितता अनिवार्य विद्यमान रहती है। आस्था की सर्वप्रथम विशेषता यह है की आस्था तथ्यों अथवा आध्यात्मिक कथनों या वैज्ञानिक कथनों से संबंध नहीं है प्राय तथ्यपरख कथनों के संदर्भ में आस्था के स्थान पर विश्वास शब्द का प्रयोग होता है ।आस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इससे निबौद्धिकमनोदेश के रूप में विदित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है की आस्था के विषयों को तर्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है जिस विषय में हमारी आस्था होती है उसे अनुभव,निरीक्षण या तर्कबुद्धि के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। महान दार्शनिक इमानुएल कांत नेcritiq of pare reason में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर आत्मा संकल्प की स्वतंत्रता आदि हमारे ज्ञान के विषय नहीं है इनका तर्कबुद्धि और अनुभव द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इन्हें आस्था के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है की आस्था को निबौद्धिक कहने का यह अभिप्राय नहीं है की आस्था पूर्णतः तर्क विरोधी या बुद्धि विरोधी है। तर्क विरोधी और बुद्धि विरोधी विश्वास आस्था न होकर अंधविश्वास है। आस्था की एक अन्य विशेषता यह है कि यह अनिश्चयात्मक होती है जो विषय निश्चित एवं प्रमाणित होते हैं वह आस्था के विषय ना होकर ज्ञान के विषय हैं।

प्राया तथ्य परक कथनों के सन्दर्भ में आस्था के स्थान पर विश्वास शब्द का प्रयोग होता है। आस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसे' निर्बौध्दिक मनोदशा के रूप में वर्णित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आस्था के विषयों को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। जिस विषय में हमारी आस्था होती है उसे अनुभव, निरीक्षण या तर्क बुद्धि के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कान्ट ने -'Critique of Pure Reason" में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर, आत्मा, संकल्प की स्वतंत्रता आदि हमारे ज्ञान के विषय नहीं है,इनका तर्कबुद्धि और अनुभव द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है । इन्हे आस्था के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आस्थाको निर्बौध्दिक कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि आस्था पूर्णतः तर्क विरोधी या बुद्धिविरोधी है। तर्क विरोधी और बुद्धि विरोधी विश्वास आस्था न होकर अंधविशास है। आस्था की एक अन्य विशेषता यह है कि यह अनिश्चयात्मक होती है। जो विषय निश्चित एवं प्रमाणिक होते है, वे आस्था के विषय न होकर ज्ञान के विषय है।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि आस्था की अनिश्चयात्मकता आस्थावान के लिए नहीं है अपितु एक वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति के लिए है। आस्थावान तो उस विषय में पूर्ण निश्चित विचार रखता है, जिसमे वह आस्था रखता है।

उदाहरणार्थ- जो व्यक्ति धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व या आत्मा की अमरता में आस्था रखता है वह उनकी अस्तित्वविहीनता की कल्पना तक नहीं करता है। 'उसकी ओर इन विषयों में जिनकी आस्था नहीं होती है, वे इनके अनस्तित्व की न केवल कल्पना करते है अपितु उसके अस्तित्व का खण्डन भी करते है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आस्थावान व्यक्ति की निश्चयात्मकता वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होती है क्रिर्के गार्ड जैसे-समकालीन अस्तित्ववादी विचारक या आस्थावान मनुष्य भी निश्चयात्मकता को धर्म का अनिवार्य तत्व मानकर इसे विशिष्ट महत्व देते हैं।

आस्था की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसका आस्थावान पर अमिट प्रभाव पड़ता है। तथ्य परक सामान्य विश्वास तथा ज्ञान के विपरीत आस्था मानव व्यक्तित्व का अपृथक भाग बन जाती है। जिन तथ्यों सिद्धांतों या मान्यताओं का ज्ञान मनुष्य अनुभव, निरीक्षण प्रयोग या तर्वबुद्धि के द्वारा प्राप्त करता है।

वह उसमें परिवर्तन, संशोधन या परित्याग के लिए मानसिक रूप से तैयार रहता है, जबकि आस्था के विषय में यह नही कहा जा सकता है। आस्थावान के विषय के प्रति आस्थावान तटस्थ नहीं रह सकता। विट्गिन्सटाइन ने कहा है कि आस्था एक विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। एक आस्थावान व्यक्ति जिन विषयों में आस्था रखता है, उसी के अनुरूप जीवन व्यतीत करने के लिए वह बाध्यता या प्रतिबद्धता का अनुभव करता है। आस्था का आधार श्रद्धा है, जिससे व्यक्ति अपने जीवन को उत्प्रेरित करता है।

4.6 प्रमाण

आस्था को प्रमाणों या तर्को के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। रसेल के शब्दों में हम कह सकते है कि आस्था ऐसा वस्तु में द्वद विश्वास है, जिसके लिए कोई साक्ष्य नहीं हो। जहाँ साक्ष्य हो, वहाँ आस्था को बात ही नहीं की जा सकती है। - दो और दो चार होते है।, पृथ्वी गोल है।, आदि आस्था का विषय नहीं है। हम आस्था की बात नहीं करते है जहाँ साक्ष्य के स्थान पर भावना को प्रस्तुत किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि आस्था संज्ञानात्मक है अथवा नही? प्रायः यह कहा जाता है कि आस्था का प्रयोग संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है।

उदाहरणार्थ मुझे ईश्वर में पूर्ण आस्था है, ईश्वर विश्व का रचयिता है, ईश्वर हमारी प्रार्थना को सुनता है आदि कथन संज्ञानात्मक कथन है। जहाँ धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के गुणों एवं कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने प्रयास कर रहा रहा है। दूसरी ओर 'मुझे ईश्वर में पूर्ण आस्था है, मुझे अमुक सिद्धान्त में आस्था है।' आदि कथन असंज्ञानात्मक है। यहाँ आस्था के द्वारा किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है आस्था के इस रूप को प्राय: श्रद्धा सम्बन्धी आस्था' कहा जाता है। जान हिक ने भी इस बात का समर्थन किया है कि आस्था संज्ञानात्मक तथा असंज्ञानात्मक दोनों होती है उनका कथन है आस्था शब्द का प्रयोग संज्ञानात्मकत्था असंज्ञानात्मक दोनों अर्थो में किया जाता है।"

4.7 समीक्षा

समीक्षकों के मत का जहाँ तक प्रश्न है, वे आस्था को विज्ञान की तरह संज्ञानात्मक नही मापने क्योंकि आस्था के विषय, विज्ञान के विषयों की तरह तथ्यपरक या वस्तुपरक नहीं होते हैं। आस्था भावमूलक है, इसमें अभिवृत्ति रहती है तथा इस अभिवृत्ति को युक्तियों के द्वारा समर्पित करना कठिन होता है सभी आस्था का विषय मुक्तिपरक या यौक्तिक नहीं होते है।

वस्तुता आस्था मुक्तिपरक (Rational) अयुक्तिकरक (a-Rational), मुक्तिविरोधी (Irrational) तथा युक्तितटस्थ (Non-rational) हो सकती है। अयुक्तिकरक आस्था उसे कहा जा सकता है, जिसमें युक्तियाँ न अभावात्मक रूप से तथा न अभावात्मक रूप से दी जा सकती है। पुनर्जन्म का सिद्धान तथा आत्मा की अमरता सम्बंधी आस्था इसी कोटि में आती है। मुक्ति विरोधी आस्था वह है कि जिन्हे धार्मिक ज्ञान के विरुद्ध रहने पर भी अपनी आस्था का विषय बनाये रहते है। ईसाकुवांरी या 'मरियम के पुत्र है।" इसी प्रकार की आस्था है। युक्ति तटस्थ आस्था वह है,

जहाँ सिद्धांत युक्तियों का स्थान नहीं रहता है। स्वर्ग-नरक न्याय दिवस आदि की अवधारणाएं इसी प्रकार की आस्था के विषय है।

4.8 सारांश

धार्मिक आस्था का सम्बन्ध अनिवार्यतः, किसी दैवी सत्ता तथा अन्य अतिप्राकृतिक विषयों से है। जब कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता आत्मा, पुनर्जन्म, अवतार। परलोक स्वर्ग परक आदि अतीन्द्रिय अथवा अनुभवातीत विषयों में आस्था रखता है तो हम उसकी इस आस्था को धार्मिक आस्था' की संज्ञा दे सकते है यह अलौकिक धार्मिक आस्था का अनिवार्य तत्व है।

धर्म तथा धार्मिक विषयों से अनिवार्यतः सम्बन्ध होने के कारण ही ऐसी आस्था को 'धार्मिक आस्था' कहा जाता है धार्मिक आस्था के अभाव में मानव जीवन के लिए धर्म के अस्तित्व तथा उसकी सार्थकता की कल्पना ही नही की जा सकती। इस प्रकार धार्मिक आस्था को धर्म का मूल आधार माना जा सकता है इस प्रकार निष्कर्षता यह सकते है कि मानव जीवन के लिए धार्मिक आस्था की भूमिका सीमित ही प्रतीत होती है।

4.9 बोध- प्रश्न

1. आस्था से आप क्या समझते हैं ?आस्था और विश्वास में अंतर स्पष्ट कीजिए।

2. क्या आस्था और ज्ञान में अंतर होता है? समझाइए।

4.10 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई–5 तर्क बुद्धि

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध

5.3 प्रमुख दार्शनिक विचार

5.4 समीक्षा

5.5 सारांश

5.6 बोध प्रश्न

5.7 उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

धर्म और तर्क बुद्धि का संबंध सदियों से दार्शनिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। एक ओर जहाँ धार्मिक विश्वास को अक्सर आस्था, अनुभूति और परंपरा पर आधारित माना जाता है, वहीं दूसरी ओर तर्क बुद्धि को ज्ञान और समझ का एक वैज्ञानिक साधन माना जाता है। इस विषय का उद्देश्य इन दोनों क्षेत्रों के बीच संबंध का गहन विश्लेषण करना है, विशेष रूप से यह समझने के लिए कि तर्क बुद्धि किस प्रकार धार्मिक विश्वासों के निर्माण और समर्थन में भूमिका निभा सकती है।

इस अध्ययन सामग्री में, हम धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच के संबंध को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखेंगे। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं ने इस संबंध को देखा है, और कैसे आधुनिक समय में यह विचार विकसित हुआ है। हम तर्क बुद्धि के विभिन्न रूपों और उनके धार्मिक विश्वास पर प्रभाव का अध्ययन करेंगे, साथ ही यह भी देखेंगे कि कैसे धार्मिक विश्वास तर्क बुद्धि को प्रभावित कर सकता है।

5.1 प्रस्तावना

धर्मदर्शन के अंतर्गत विचारणीय महत्वपूर्ण समस्याओं में धार्मिक ज्ञान व उसके स्वरूप का विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

इस विषय का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि यह हमें धर्म और विज्ञान, आस्था और तर्क, अनुभूति और बुद्धि जैसे द्वंद्वों के बीच संतुलन खोजने में मदद करता है। यह हमें अपने धार्मिक विश्वासों को और अधिक गहराई से समझने, उनकी तार्किक आधार रेखा को पहचानने, और उन्हें अधिक सुविचारित तरीके से व्यक्त करने में सहायता करता है।

आगे के अनुच्छेदों में, हम इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे, जिसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रमुख दार्शनिक विचार, तर्क बुद्धि के विभिन्न प्रकार, धार्मिक तर्क के उदाहरण, आलोचनाएँ और चुनौतियाँ, और वर्तमान समय में इस विषय की प्रासंगिकता शामिल हैं।

सामान्यता ज्ञान का अर्थ है कि मनुष्य अपने निरिक्षण तथा तर्कबुद्धि के द्वारा जो कुछ जानता है या जान सकता है वह ज्ञान है इस ज्ञान को जाब हम धार्मिक विषयों के संबंध में जैसे- ईश्वर का अस्तित्व आत्मा की अमरता भक्ति इत्यादि विषयों में प्रमुक्त करते हैं तो वह धार्मिक ज्ञान कहलाता है विश्व के प्रमुख धर्मों या धर्म ग्रंथों में भी प्रायः इन्हीं विषयों से संबंधित कथने तथा सिद्धान्तों को धार्मिक ज्ञान के अंतर्गत माना गया है इसके प्रमुख आधार के रुप में तर्कबुद्धि की भूमिका महत्वपूर्ण मिनी जाती हैं जीवन में तकबुद्धि का अत्यधिक प्रभाव है अरस्तू के अनुसार तर्क बुद्धि ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है और मनुष्य को उत्कृष्ट बनाती हैं।तर्क बुद्धि द्वारा मनुष्य जीवन तथा जगत की समस्याओं पर बौद्धिक दृष्टि से विचार करने में समर्थ होता है।मनुष्य की यह एक विशेष बौधिक शक्ति है, जिसका संबंध विवेक संकल्प, आदि बौद्धिक क्रिया से अधिक है जिसमें किसी प्रकार की अलौकिकता हेतु कोई स्थान नहीं है धार्मिक दृष्टि से इसका सर्वाधिक योगदान दैव प्रकाशना या रहस्यात्मक अनुभूति को स्पष्ट करने में है।

इस प्रकार की अनुभूतियों की प्रकाशित करने के लिए तथा अन्य व्यक्तियों तक संप्रेषित कर स्थायी बनाने के लिए भाष की आवश्यकता होता हैं, जिसका निर्माण तर्क बुद्धि हारा ही संभव होता है , प्रत्येक धर्म का आधार कोई न कोई श्रुति (जिसे सुनकर लिखा या बताया जाये जैसे कुरान, गोता, वेद आदि)होती है, जो कि सामान्यता रहस्यात्मक अनुभूतियों एवं दैवी सभी प्रकाशना पर आधारित होती है।इन सभी को क्षणिक तथा अस्थाई माना जाता है इसलिए तर्क बुद्धि द्वारा क्षणिकअनुभूतियों को लिपिबद्ध करने एवं संप्रेषित करने में सफलता मिलती है।

प्रत्येक धार्मिक ग्रंथो अनेक दुरुह एवं अस्पष्ट तथ्यों का वर्णन होता है। जैसे- उपनिषद् गीता कुरान, बाइबिल आदि धर्म के आधार स्तम्भ है इनके संक्षिप्त सूत्रों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है तर्क बुद्धि द्वारा ही दुरुह अंशों की व्याख्या करके स्पष्टीकरण किया जाता है तर्क बुद्धि के अभाव धर्म ग्रंथों काष्टा स्पष्ट व्याख्या संभव नहीं है।

धार्मिक ज्ञान के स्रोत के रूप में तर्क बुदि एक तरफ धर्म को अंधविश्वासों से मुक्त करती है। वहीं दूसरी ओर वस्तुनिष्ठता एवं साम्भौमिकता पुट लाती है यदि धर्म की युगानुरुप व्याख्या करनी हो तो तर्क बुध्दि को स्वीकार करना ही पड़ेगा जब हम विवेक से हटकर अपने अंतःकरण मा मूलप्रवृत्ति पर विश्वास कर लेते हैं तो मुस्किलों में पड़ जाते हैं इस दृष्टि से धार्मिक ज्ञान में तर्क बुद्धि की सदैव आश्यकता रहती है साथ ही धर्म को भविष्य के लिए अयोगी भीबनाये रखती है। यहाँ समस्या है कि क्या तर्क बुद्धि पर आधारित ज्ञान की कमसौटी पर धार्मिक बातों की निश्चित व्याख्या संभव है।

5.2 धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध

धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव सभ्यता का। प्राचीन काल से ही, मनुष्य ने अपने आस-पास की दुनिया और अपने अस्तित्व के अर्थ को समझने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में, धार्मिक विश्वास और तार्किक चिंतन दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं।

प्राचीन यूनानी दर्शन में, सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वासों और नैतिक मूल्यों को तर्क बुद्धि के माध्यम से समझने का प्रयास किया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या देवताओं का अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया जा सकता है, और नैतिकता के लिए धार्मिक आधार की आवश्यकता है या नहीं।

मध्यकालीन यूरोप में, ईसाई धर्म के प्रभाव के साथ, धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच संबंध और भी जटिल हो गया। सेंट ऑगस्टीन और सेंट थॉमस एक्विनास जैसे धर्मशास्त्रियों ने ईश्वर के अस्तित्व को तर्क बुद्धि के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि विश्वास और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

इस्लामिक दर्शन में भी, अल-किंदी, अल-फाराबी और इब्न सीना जैसे दार्शनिकों ने तर्क बुद्धि और धार्मिक विश्वास के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने यूनानी दर्शन और इस्लामिक शिक्षाओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

भारतीय दर्शन में, न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक रूप से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। बौद्ध धर्म में, तर्क और विश्लेषण को आध्यात्मिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

आधुनिक काल में, विज्ञान के उदय के साथ, धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध और भी जटिल हो गया। एक ओर जहाँ कुछ विचारकों ने धर्म और विज्ञान के बीच संघर्ष की स्थिति देखी, वहीं दूसरों ने इन दोनों के बीच समन्वय की संभावना तलाशी।

इस प्रकार, ऐतिहासिक रूप से, धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि का संबंध एक जटिल और गतिशील रहा है, जो विभिन्न सभ्यताओं और काल में अलग-अलग रूपों में व्यक्त हुआ है।

तर्क बुद्धि के लिए बोधगम्यता संगति प्रमाणिकता का होना अनिवार्य है। इसका अर्थ हुआ कि विचार, विश्वास या सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण किया जाये तो उसकी भाषा स्पष्ट एवं बोधगम्य होनी मच चाहिए यदि भाषा अस्पष्ट है तो हमारे लिए यह निरर्थक होगी इसी प्रकार विश्वास या सिद्धान्त में पूर्ण संगति भी महत्वपूर्ण है अर्थात् तार्किक दृष्टि से ऐसा चिंतन तभी सार्थक माना जायेगा जब इसमें किसी प्रकार का व्याधान न हो।

पुनः ज्ञान के पक्ष में निश्चित तथा विश्वसनीय प्रमाण होना चाहिए। यदि विश्वास के संबंध में कोई विरुद्ध प्रमाण है तो उसे मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है। इन कसौटियों के अतिरिक्त व्यापक अर्थ में मानवी अनुभव का भी तर्क बुद्धि के साथ घनिष्ट संबंध है। अनुभव के आधार पर उपयोगी एवं निश्चित निष्कर्ष निकालकर लाभ उठाने की क्षमता मनुष्य को उसकी तर्क बुद्धि ही प्रदान करती है।

तर्क बुद्धि की कसौटियों के संदर्भ में धार्मिक ज्ञान की निश्चित व्याख्या संभव नहीं है धार्मिक ज्ञान आत्मा आदि अतेन्द्रिय सत्ताओं से संबंधित होता है जिसमें बोधगम्यता का अभाव पाया जाता है इसके अतिरिक्त धार्मिक ज्ञान में विरोधाभास या असंगति विद्यमान रहती है पुनः धार्मिक ज्ञान अपरीक्षणीय होता है जिसका संबंध इन्द्रिय जगत या आणविक जगत की वस्तुओ से न होकर अलौकिक जगत से होता है। धर्म परायण व्यक्ति अपने धार्मिक ज्ञान को सदैव अपरिवर्तनशील मानता है उसका यही दृष्टिकोण धार्मिक ज्ञान के प्रति आस्था का रूप ले लेता है जो कि निर्बौधिक अवस्था है।

अतः हमारा समस्त ज्ञान तर्कबुध्दि पर आधारित होता है जबकि धार्मिक ज्ञान आस्था पर ही केन्द्रित रहा है।इस विचार या सत्ता के प्रति मनुष्य का दृढ विश्वास आस्था है जिसे पर्याप्त विश्वनीय होते हुये भो स्वीकार करता है इसलिए| धार्मिक ज्ञान अपने स्वरूप में तर्ककुदि में आधारित ज्ञान से पूर्णता भिन्न होता है मानवीय तर्क बुद्धि के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व आत्मा की अमरता की कोई निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती।

उल्लेखनीय है कि आई एच हक्सले जैसे विद्वान मानते हैं कि धार्मिक ज्ञान के संदर्भ में तर्क बुद्धि की भूमिका अप्रसांगिक है उनके अनुसार हमारी सीमित बुध्दि असीमित ईश्वर को जानने में असमर्थ है अतः इस संदर्भ में कुछ भी कहना तर्क संगत नहीं है। जो दार्शनिक धार्मिक ज्ञान का आधार तर्क बुद्धि को नहीं मानते हैं। उनका पक्ष है कि ईश्वर सभी प्रकार के संबंधों से परे है।

अतः विमर्शात्मक बुद्धि के माध्यम से ईश्वर को नहीं सकता है दार्शनिक काष्ट भी परामर्थ को अज्ञेय कहते हैं। पुनः समीक्षकों का स्पष्टीकरण हैं कि बुध्दि के माध्यम से तत्वों को जानने का दावा किया जाता हैं उसकी प्रमाणिकता निर्धारण कौन करेगा ?

5.3 प्रमुख दार्शनिक विचार

धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में तर्क बुद्धि की भूमिका पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। यहाँ कुछ प्रमुख दार्शनिक विचारों पर चर्चा की जाएगी।

प्लेटो का दृष्टिकोण: प्लेटो ने अपने "रिपब्लिक" में धर्म और नैतिकता के बीच संबंध पर चर्चा की। उन्होंने तर्क दिया कि सच्चा ज्ञान तर्क बुद्धि से प्राप्त होता है, न कि केवल धार्मिक विश्वास से। उनका मानना था कि धार्मिक कथाओं और मिथकों को तर्क बुद्धि की कसौटी पर कसा जाना चाहिए।

अरस्तू का योगदान: अरस्तू ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तार्किक तर्क दिए। उन्होंने "पहला कारण" या "अचल चालक" का सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार सृष्टि के पीछे एक मूल कारण होना चाहिए, जिसे वे ईश्वर मानते थे।

सेंट ऑगस्टीन का दृष्टिकोण: ऑगस्टीन ने विश्वास और समझ के बीच संबंध पर जोर दिया। उनका प्रसिद्ध कथन था "समझने के लिए विश्वास करो, विश्वास करने के लिए समझो।" उनका मानना था कि विश्वास तर्क बुद्धि की नींव है, लेकिन तर्क बुद्धि विश्वास को और मजबूत करती है।

सेंट थॉमस एक्विनास के विचार: एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पाँच तार्किक तर्क दिए, जिन्हें "पंच मार्ग" के नाम से जाना जाता है। उन्होंने तर्क दिया कि विश्वास और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि दोनों सत्य की ओर ले जाते हैं।

रेने देकार्त का योगदान: देकार्त ने तर्क बुद्धि को ज्ञान का प्राथमिक स्रोत माना। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तार्किक तर्क दिए, जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि ईश्वर की धारणा हमारे मन में है, और यह धारणा केवल एक पूर्ण सत्ता द्वारा ही दी जा सकती है।

इमैनुएल कांट के विचार: कांट ने तर्क दिया कि परंपरागत ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण अपर्याप्त हैं। हालाँकि, उन्होंने यह भी कहा कि नैतिकता के लिए ईश्वर की धारणा आवश्यक है। उनका "नैतिक तर्क" कहता है कि यदि नैतिकता वास्तविक है, तो ईश्वर का अस्तित्व होना चाहिए।

विलियम जेम्स का प्रैग्मेटिक दृष्टिकोण: जेम्स ने तर्क दिया कि धार्मिक विश्वास का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि यदि कोई विश्वास व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाता है, तो उसे स्वीकार किया जा सकता है।

अल्विन प्लांटिंगा का तर्क: प्लांटिंगा ने "वारंटेड क्रिश्चियन बिलीफ" में तर्क दिया कि ईसाई विश्वास तर्कसंगत हो सकता है, भले ही उसे पूरी तरह से सिद्ध न किया जा सके।

रिचर्ड स्विनबर्न का बेयेसियन दृष्टिकोण: स्विनबर्न ने बेयेसियन तर्क का उपयोग करके ईश्वर के अस्तित्व की संभावना का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। उन्होंने तर्क दिया कि विश्व की जटिलता और नियमितता ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में एक मजबूत तर्क प्रस्तुत करती है।

एंथनी फ्लू का परिवर्तन: लंबे समय तक नास्तिक रहने के बाद, फ्लू ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों मंक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने तर्क दिया कि जीवन की उत्पत्ति और ब्रह्मांड की जटिलता को समझने के लिए एक बुद्धिमान डिजाइनर की आवश्यकता है।

इन विभिन्न दार्शनिक विचारों से स्पष्ट होता है कि धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच संबंध एक जटिल और बहुआयामी विषय है। कुछ दार्शनिकों ने तर्क बुद्धि को धार्मिक विश्वास के समर्थन में इस्तेमाल किया है, जबकि अन्य ने इसका उपयोग धार्मिक दावों की आलोचना के लिए किया है। यह विविधता इस बात को रेखांकित करती है कि तर्क बुद्धि और धार्मिक विश्वास के बीच संबंध एक सरल द्विभाजन से परे है।

5.4 समीक्षा

धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में तर्क बुद्धि की भूमिका पर कई आलोचनाएँ और चुनौतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ कुछ प्रमुख आलोचनाओं और चुनौतियों पर चर्चा की जा रही है:

तर्क की सीमाएँ: कई दार्शनिकों का मानना है कि तर्क बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं और वह धार्मिक विश्वास जैसे व्यक्तिगत और भावनात्मक विषयों को पूरी तरह से समझने या समर्थन करने में असमर्थ हो सकती है।

उदाहरण: डेविड ह्यूम ने तर्क दिया कि हम कारण-प्रभाव संबंधों के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, जो कई धार्मिक तर्कों का आधार है।

विश्वास बनाम तर्क: कुछ धार्मिक विचारकों का मानना है कि धार्मिक विश्वास मुख्य रूप से आस्था पर आधारित होता है, न कि तर्क पर। वे तर्क करते हैं कि तर्क बुद्धि का अत्यधिक उपयोग विश्वास के मूल तत्व को कमजोर कर सकता है।

उदाहरण: सोरेन किर्केगार्ड ने तर्क दिया कि ईश्वर में विश्वास एक "छलांग" है जो तर्क से परे है।

तर्क की व्याख्या: एक ही तर्क की विभिन्न व्याख्याएँ हो सकती हैं, जो विभिन्न निष्कर्षों की ओर ले जा सकती हैं। यह धार्मिक विश्वास के लिए तर्क के उपयोग को जटिल बना देता है।

उदाहरण: कॉस्मोलॉजिकल तर्क की विभिन्न व्याख्याएँ ईश्वर के अस्तित्व, बहुदेववाद, या यहां तक कि नास्तिकता का समर्थन करने के लिए की जा सकती हैं।

विरोधाभास और अस्पष्टता: कई धार्मिक अवधारणाएँ तार्किक विरोधाभासों या अस्पष्टताओं से भरी होती हैं, जो उन्हें तर्क बुद्धि के माध्यम से पूरी तरह से समझना कठिन बना देती हैं।

5.5 सारांश

- स्पष्टतया मानव ज्ञान की यह सीमा है कि वह अपनी तर्क बुद्धि, यहाँ तक व्यापक अर्थ में इन्द्रिय अनुभव के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से धार्मिक ज्ञान से जुड़ी अलौकिक सत्ता की व्याख्या नहीं कर पाता। अतः धार्मिक ज्ञान में तर्कबुद्धि ज्ञान की सीमित भूमिका है इसीलिए तर्क बुद्धि के बजाय धार्मिक ज्ञान को श्रुति एवं रहस्यात्मक अनुभूति के आधार पर ,आस्था के द्वारा ही व्याख्यायित किया जाता है।

5.6 बोध प्रश्न

1 धार्मिक विश्वास के आधार के रुप में तर्क बुद्धि की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

2. क्या तर्क बुद्धि धार्मिक विश्वास , धार्मिक मान्यताओं के संबंध में सकारात्मक रूप से सहायक है?

5.7 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

----------0000----------

इकाई–6 देवी प्रकाशना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 परिभाषा एवं अर्थ

6.3 सारांश

6.4 बोध- प्रश्न

6.6 उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई में देवी-प्रकाशना पर विस्तृत चर्चा की गयी है। यह दैवी प्रकाशना धर्म दार्शिनिकों द्वारा बताये गये धार्मिक विश्वास को चार आधारों में से एक है। यहाँ न केवल दैवी प्रकाशना के बारे में विचार किया गया है बल्कि उससे सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाएं भी दी गयी है। इसके अतिरिक्त ईकाई के अन्त में आप विभिन्न प्रमाणों तथा आधारों पर भी विस्तृत चर्चा की गयी है।

6.1 प्रस्तावना

दैवी प्रकाशना धार्मिक विश्वास का महत्वपूर्ण आधार है। किसी अप्रकासित विषय को प्रकाशित करना ही प्रकाशना है। धार्मिक क्षेत्र में सदैव - प्रकाशना का आशय उस माध्यम से है, जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं मनुष्यो को अपने विषय में जानकारी देता है ताकि मानव जीवन में लाभ प्राप्त कर सके। दैव प्रकाशना के द्वारा ईश्वर अपने स्वरूप एवं अस्तित्व को प्रकासित करता है।

6.2 परिभाषा एवं अर्थ

दैव प्रकाशना का अर्थ है - ईश्वर या दैवी सत्ता का आत्मा- प्रकाशन या स्वयं को प्रकासित करता। उसे दैवी सत्ता का अभिव्यक्तिकरण (divine- self-disciare) भी कहा जा सकता है। Cathalic Encyclopedia में दैवी प्रकाशना को ईश्वर द्वारा बौद्धिक प्राणियों के बीच असाधारण साधन के द्वारा कुछ सत्यों के प्रकटीकरण के रूप में परिभाषित किया गया है।

एच. डी. लेविस ने अपनी पुस्तक *The Philosophy of Religion' में दैवी प्रकाशना को इस प्रकार पारिभाषित किया है- " दैवी प्रकासना (ईश्वरीय प्रकाशना) के माध्यम से ईश्वर हमें जानकारी देता है कि उसका स्वरूप क्या है तथा वह क्या हमसे अपेक्षा करता है।"

जान हिक देव प्रकाशना के बारे में कहते है कि" दैव प्रकाशना मानव की दैव प्रमाणित सत्यों का प्रकर्ताकरण है।" हिक का मानना है कि मनुष्य सीमित होने के कारण ईश्वरीय गुणों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में अक्षय है क्योंकि ईश्वरीय गुण असीम

तथा उच्चतम है जबकि मानवीय गुण असीम है। अतः ये गुण मानव को ईश्वर द्वारा स्वयं बतलाये गये है। दैवी संदेश की अभिव्यक्ति आकाशवाणी, चमत्कार या अन्तर्बोध आदि के माध्यम से होती है। दैवी प्रकाशना को हम विश्व को

ईश्वरीय देन के रूप में अभिहीत कर सकते हैं। इस प्रकार दैवी प्रकाशना के माध्यम से ईश्वर मनुष्य को सत्य की जानकारी देता है। यह जानकारी साधारण ढंग से नहीं बल्कि चमत्कारी ढंग से देता है।

दैव- प्रकाशना में सक्रिय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है, साथ ही यह भी विश्वास किया जाता है कि ईश्वर में सत्यों को प्रदान करने की क्षमता निहित होती है। इसके अतिरिक्त दैव-प्रकाशना में बौद्धिक प्राणियों की भी सत्तास्वीकार की जाती है जो सत्यों की ग्रहण करता है। दैव प्रकाशना विश्व को ईश्वरीय देन है, जिसका बोध केवल ईश्वरवादियों को ही हो सकता है।

धर्म के क्षेत्र में एक धार्मिक ईश्वर के बारे में अधिक से अधिक जानना चाहता है। वह ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करना चाहता है-

या ईश्वर के साक्षात्कार की इच्छा रखता है। उसमें ईश्वर से मिलने की व्यग्रता या उत्सुकता या तड़प होती है। ईश्वर भी स्वयं को मानव के समक्ष तभी प्रस्तुत करता है जब मानव ईश्वर की ग्राह्यता में सक्षम सिद्ध होता है। धर्मशास्त्रों में भी ईश्वर की प्रकाशना विशेष रूप में दिखायी पड़ती है। गीता, बाइबिल, कुरान, आदि में ईश्वर की प्रकाशना देखी जाती है।

अनेक धर्मो में कुछ ऐसे महापुरुषों का उल्लेख हैं, जिन्हे नबी का अवतार कहा जाता है, जिन्हें जीवन एवं निधन से दैवी प्रकाशना की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए ईसा, भगवान राम, कृष्ण, मूसा तथा पैगम्बर ऐसे ही महापुरुष है जिनके जीवन की घटनाओं से दैवी प्रकाशना को झलक मिलती है। शब्द तथा घटना के माध्यम से अभिव्यक्त दैवी प्रकाशना में भेद किया जा सकता है। शब्दों के रूप में संकलित दैवी प्रकाशना का उदाहरण वेद, बाइबिल आदि श्रुतियों से मिलता है, घटनाओं के रूप में दैवी संदेश की अभिव्यक्ति आकाश वाणी या चमत्कार के माध्यम से होती है।

धार्मिक अनुभूति के आधार पर सामान्य तथा विशिष्ट दैवी प्रकाशना में भेद किया जा सकता है। विश्व की अनेक वस्तुओं तथा घटनाओं में धार्मिक व्यक्ति को सन्देश प्राप्त होता है। इसके विपरीत चमत्कार आदि विशिष्ट घटनाओं के माध्यम से विशिष्ट दैवी प्रकाशना अभिव्यक्त होती है।

विलियम टेम्पल ने 'Nature of god" नामक पुस्तक में ईश्वर के आत्मप्रकाशन तथा अन्य कार्यों के मध्य विभेद का निवेध अवलोकनार्थ है। उनके विचार थे कि ईश्वर के समस्त कार्य उसके स्वरूप की प्रकाशना करते हैं। भारतीय दर्शन में श्रीमद्भगवतगीता में भी स्पष्टता ईश्वर के अवतरित होने की बात को स्वीकार किया गया है।

अद्वैत वेदान्ती शंकरचार्य भी प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्मज्ञान के द्वारा जीवमुक्त हो जाने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

विशिष्टाद्वैत के संस्थापक आचार्य रामानुज ने भी श्रीभाव्य' में कहा है कि ध्यान, भक्ति तथा आत्मसमर्पण द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार संभव है।

इन विभिन्न विचारों के उपरान्त दैव प्रकाशना के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये जाते है कि मानव को दैव प्रकाशना की आवश्यकता किस परिस्थिति में पड़ती है? क्या दैव प्रकाशना परीक्षणीय है? दैव प्रकाशना का स्वरूप क्या है?

जहाँ तक दैव प्रकाशना की आवश्यकता का प्रश्न है कहा जा सकता है कि मानव की दैव प्रकाशना की आवश्यकता जीवन में उपस्थित व्यावहारिक समस्याओं के आलोक में पड़ती हैं। मनुष्य मूलता धार्मिक प्राणी है वह ईश्वर साक्षात्कार की तड़प कामना सदैव करता है। ईश्वरीय साक्षात्कार की तड़प उसमें सदैव बनी रहती है। दैव प्रकाशना मानव की इस व्यग्रता एवं तड़प का प्रतिफल है।

क्या दैव प्रकाशना परीक्षणीय है? इस सम्बंध में कहा जा सकता है कि दैव प्रकाशना परीक्षणीय नहीं है क्योंकि हम केवल उन्हीं वस्तुओं को जान सकते है जो हमारी दृष्टि सीमा में विद्यमान है।

परीक्षणीय न होने पर भी दैवी प्रकाशना को भ्रामक नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि उसे भ्रामक मानना ईश्वर की आत्म प्रकाशन भक्ति को भ्रामक कहना है कोई भी व्यक्ति ईश्वर को पूर्णरूप से नहीं जान सकता क्योंकि वह अबाध है। वह तो केवल हमारी श्रद्धा का आधार है।

ईश्वर विभिन्न साधनों के माध्यम से अपने को प्रकाशित करता है ताकि मानव का मार्गदर्शन हो सके।

ईश्वर स्वयं किसी न किसी रूप में मानव के निर्देशन हेतु जगत में अवतार ग्रहण करता है जैसा कि गीता में कहा गया है

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्

ईश्वर सृष्टि द्वारा स्वयं को प्रकाशित करता है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है।

ईश्वर स्वयं को धर्मशास्त्रों, वेद, उपनिषद, कुरान बाइबिल आदि द्वारा भी स्वयं को प्रकाशित करता है क्योंकि धर्म शास्त्र ईश्वरीय आदेशों का संकलन है।

ईश्वर कभी कभी आकाशवाणी, दित्यस्वप्न, दित्यदर्शन संत तथा साधुओं के माध्यम से भी स्वयं को अभिव्यक्ति करता है।

दैव प्रकाशना में ईश्वर की सत्ता को पूर्ण मान्यता के रूप में मानना अनिवार्य है। ईश्वर ही सत्यों का प्रकाशन करता है।

दैवी प्रकाशना की सत्यापनीयता तथा प्रमाणिकता का विचार करते समय एक प्रश्न उसके स्वरूप के बारे में भी उठता है। इस प्रकार के प्रश्न का औचित्य उस तथ्य से निर्धारित होता है कि एक ही श्रुति के अन्तर्गत परस्पर विरोधी कथन सम्मिलित रहते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि श्रुतियाँ या धर्मशास्त्र के ज्ञान के साधन है इस प्रकार अनेक श्रुतियाँ या धर्मशास्त्र अपने अपने तरीकों से इसके स्वरूप की विवेचना करते है अतः इस प्रश्न का कोई न्यायोचित या एकांगी उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है।

दैवी प्रकाशना के सम्बन्ध में उठने वाले अनेक प्रश्नों के समाधान "का प्रयास धर्म दार्शनिकों एवं धर्मशास्त्रियों द्वारा किया गया है।

कभी कभी भ्रान्त धारणाओं के कारण कुछ लोग दैवी प्रकाशना का अनुभव प्राप्त करने का दावा करते हैं जिसके कारण वास्तविक दैवी प्रकाशना तथा अवास्तविक दैवी प्रकाशना के मध्य अन्तर कर पाना कठिन होता है। सामान्यतया दैवी प्रकाशना को मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से परे अलौकिक अनुभूति माना जाता है इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा इसकी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

6.3 सारांश

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि दैवी प्रकाशना तर्क, बुद्धि या इन्द्रियानुभव पर आधारित न होकर आस्था या श्रद्धा पर आधारित अवधारणा है ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि ईश्वरीय कृपा प्राप्त करके ही सन्त या पैगम्बर के दिव्य चक्षुओं से ईश्वरीय सत्ता का साक्षात्कार किया जा सकता है बल्कि इसके विपरीत अगर किसी भौतिक प्रामाणिकता के आधार पर इसे सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो यह पूर्णतया भ्रामक या मिथ्या होगी। दैवी प्रकाशन। केवल आस्तिकों को ही होती है नास्तिकों को नही । अतः यह स्मरणीय होगा कि दैवी प्रकाशना मिथ्या धारणा की स्थापना नही करते यदि कोई भी देवी प्रकाशना मिथ्याउम्बर या भ्रान्त धारणा का पोषण करती है तो वह भ्रामक देवी प्रकाशना होगी वास्तविक नहीं।

6.4 बोध- प्रश्न

1. दैवी प्रकाशना से आप क्या समझते हैं इसमें ईश्वर जैसी किसी सत्ता का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है?

2 दैवी प्रकाशना और तर्क बुद्धि में क्या अंतर है?

6.6 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई 07- रहस्यानुभूति

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 धार्मिक अनुभूति
7.3 धार्मिक अनुभव का क्षेत्र
7.4 धार्मिक अनुभूति का महत्व
7.5 समीक्षा
7.6 रहस्यवाद
7.7 भारतीय रहस्यवाद की विशेषताएं
7.8 समीक्षा
7.9 सारांश
7.10 बोध- प्रश्न
7.11 उपयोगी पुस्तकें

----------00000----------

7.0 उद्देश्य

प्राय: विभिन्न धर्म में , उनके धर्म ग्रंथो में, सूफी मत, इत्यादि में रहस्य अनुभूति का वर्णन मिलता है । रहस्यवादी दार्शनिकों ने रहस्य अनुभूति को धार्मिक विश्वास का आधार माना है । रहस्यवाद को स्वीकार करने वाले प्रायः निर्गुण, निराकार, परम तत्व को स्वीकार करते हैं। रहस्यवाद में भगवान एवं साधक के बीच तादात्म्य जैसी बातें स्वीकार की जाती हैं।

इस इकाई के अंतर्गत हम या जानने का प्रयास करेंगे कि रहस्यवाद क्या होता है? रहस्यवाद धार्मिक अनुभूति के रूप में किस प्रकार अतींद्रिय सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है । रहस्यवाद का धार्मिक क्षेत्र में क्या भूमिका है? भारतीय एवं पाश्चात्य रहस्यवाद का स्वरूप क्या है एवं रहस्यवाद की कमियां क्या है?

7.1 प्रस्तावना

किसी अतीन्द्रिय या दैवी सत्ता पर पूर्व निर्भरता, उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा, सम्मान, प्रेम आत्म समर्पण व पूजा की भावना धार्मिक अनुभव के अनिवार्य मूल तत्व है जो उसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करते हैं और उसे विशेष प्रकार का अलौकिक अनुभव बताते हैं। यद्यपि धार्मिक अनुभव की कोई निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा करना बहुत कठिन है। तथापि यह कहा जा सकता है कि अधिकतर दार्शनिकों के अनुसार भक्तों एवं धर्मपरायण व्यक्तियों को किसी अलौकिक या दैवी सत्ता का जो विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है। उसे धार्मिक अनुभव की संज्ञा दी जा सकती है।

7.2 धार्मिक अनुभूति

एडोल्फ आटो ने अपनी पुस्तक ‘‘द आइडिया आफ होली’’ में इस धार्मिक अनुभव के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

आटो के अनुसार धार्मिक अनु भव में बौद्धिक एवं निर्बौद्धिक दोनों तत्व विद्यमान है। फिर भी इनमें निर्बौद्धिक तत्वों की प्रधानता होती है क्योंकि धार्मिक अनुभूति मूलतः विचारात्मक न होकर भावनात्मक होती है।

धार्मिक अनुभव को अवर्णनीय कहा जा सकता है क्योंकि जो व्यक्ति इससे अपरिचित हैं उसे इसका ज्ञान ही नहीं कराया जा सकता। आटो के मतानुसार ''यह अपूर्णनीयता धार्मिक अनुभव की अनिवार्य विशेषता है।''

जो तत्व धार्मिक अनुभव को अन्य सभी अनुभवों से अलग करता है जो इसका मूलतत्व है उसे आटो दिव्यतत्व या दिव्यानुभूति की संज्ञा देते हैं। यह दिव्यानुभूति वस्तुतः निर्बौद्धिक तत्व है इसे भाषा, विचार अथवा किसी अन्य माध्यम से पृथक नहीं किया जा सकता। आटो के अनुसार इस अनुभूति में भय एवं श्रद्धायुक्त बिस्मय, रहस्यात्मकता एवं प्रेममय तीव्र आकर्षण ये तीन तत्व अनिवार्यता समान रहते हैं।

धर्म परायण व्यक्ति अपने उपास्य विषय के प्रति एक विशेष प्रकार का धार्मिक संवेग का अनुभव करता है। जिसे भय व श्रद्धायुक्त विस्मय की संज्ञा दी जाती है। अपने आराध्य के समक्ष स्वयं को धूल या राख के समान तुच्छ समझता है। आराध्य की असीम शक्ति और महत्ता के कारण आराधक आश्चर्य चकित हो जाता है और उपास्य के प्रति भव व श्रद्धा से मिश्रित विस्मय का अनुभव करता है। उपासक, उपास्य विषय के स्वरूप को समझने में असमर्थ होने के कारण उसे अन्य सांसारिक विषयों से भिन्न पाता है और उपास्य उसे रहस्यमय प्रतीत होता है और सदा अबोधगम्य और रहस्यमय ही बना रहता है।

अबोधगम्य और रहस्यात्मक होते हुए भी यह आराध्य विषय उपासक को अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित करता है, इस आकर्षण से प्रेरित होकर वह उपास्य से प्रेम करने लगता है। और अपने आपको उसके प्रति पूर्णतः समर्पित कर देता है।

7.3 धार्मिक अनुभव का क्षेत्र

धार्मिक अनुभव का क्षेत्र बहुत व्यापक है क्योंकि यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानव जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं की प्रभावित करता है। सामान्यतः इस अनुभव को भावना प्रधान माना जाता है जो उचित ही है, किन्तु इसमें भावना के साथ-साथ ज्ञान और कर्म भी अवश्य विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक भक्त या उपासक किसी दैवी सत्ता में अपने विश्वास को असंदिग्ध रूप से सत्य मानता है। उसके अनुसार विश्वास का संबंध दैवी सत्ता के ज्ञान से है। ज्ञान के साथ-साथ भावना का भी धार्मिक अनुभव में महत्वपूर्ण स्थान है। पुनश्च उपासक किसी दैवी सत्ता के अस्तित्व में केवल विश्वास नहीं करता अपितु उसकी पूजा करता है और अगाध प्रेम करता है। पूजा और समर्पण की इस भावना के अभाव में धार्मिक अनुभव का अस्तित्व ही संभव नहीं है।

धार्मिक अनुभव में पूजा और समर्पण की भावना की उपस्थिति के साथ-साथ विशेष कर्म के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। वाह्य कर्मकाण्ड के माध्यम से भक्त अपने को उपास्य विषय के साथ संबद्ध करता है। यही धार्मिक अनुभव का क्रियात्मक पक्ष है जो अन्य अनुभवों में नहीं पाया जाता अतः धार्मिक अनुभवों में भी ज्ञान भावना तथा क्रिया तीनों तत्व अनिवार्यतः उपस्थित है।

धार्मिक अनुभव की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रियजन्य अनुभव, सौन्दर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव इन तीनों का समुचित समाधान रहता है। इन्द्रियजन्य अनुभव के द्वारा उपासक पवित्र धर्म ग्रन्थों, मूर्तियों या अन्य धार्मिक वस्तुओं को देखता है एवं प्रार्थना व कीर्तन में प्रयुक्त शब्दों व संगीत की ध्वनि सुनता है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अभाव में न तो धार्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति संभव है और न ही वह हमारे लिए बोधगम्य हो सकता है। सौन्दर्यात्मक अनुभव में भक्त अपने उपास्य विषय से संबद्ध सभी क्रियाओं को सुंदर देखना चाहता है और उन्हे अधिकाधिक आकर्षक और मोहक बनाने का प्रयास करता है। नैतिकता धर्म का अनिवार्य तत्व है। जब भक्त नैतिक नियमों व आदर्शों के अनुरूप आचरण करता है तो उसे विशेष आत्मसंतोष का अनुभव होता है।

7.4 धार्मिक अनुभूति का महत्व

धार्मिक अनुभूति स्वयं सिद्ध होती है। धार्मिक अनूभूति कई रूपों में उपलब्ध होती है। तीव्र एवं समृद्ध होने पर अनुभववादी रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक धार्मिक अनुभूति में रहस्यवादी तत्व उपस्थित रहता है। अतः धार्मिक अनुभूति स्वरूपतः रहस्यात्मक होती है। धार्मिक अनुभूति का चरमोत्कर्ष रहस्यानुभूति है। आरंभ धार्मिक अनुभूति

से होता है और अंत रहस्यानुभूति होता है। इस स्थिति में जो सत्ता हमारी अनुभूति में परिणत हो जाती है। धार्मिक अनुभूति के चरमोत्कर्ष में अनुभूत अनुभाविता का द्वैत समाप्त हो जाता है। वस्तुतः रहस्यानुभूति और धार्मिक अनुभव एकदम भिन्न नहीं वरन इस का विकास है। विलियम जेम्से के अनुसार ''धार्मिक अनुभूति रहस्यात्मक चेतना पर अभिभूत चेतना पर अभिभूत एवं केन्द्रित है।''

स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभूति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। एक ओर यह सर्वेश्वरवादी तथा तीव्र रहस्यवादी अनुयायियों के रूप में तथा दूसरी ओर सीमित एवं साधारण मर्मज्ञता के रूप में प्रकट होती है अतः ईश्वर प्राप्ति हेतु अनिवार्य है।

धार्मिक अनुभूति की ईश्वर साक्षात्कार में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धार्मिक अनुभूति का चरम लक्ष्य सामान्यतः ईश्वरानुभूति ही है। (निरीश्वरवादी धर्मों को छोड़कर) रहस्यानुभूति धार्मिक अनुभूति का ही पूर्णतयः विकसित और गहन रूप है। स्वयं रहस्यवादी भी कहता है कि उसे परम तत्व ईश्वर को साक्षात् अनुभव होता है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक रहस्यवादी ईश्वर को छोड़कर प्राप्त कर सकता है।

वेदान्त के तत्वमसि के अनुसार साधक परमतत्व में विलीन हो जाता है। ईश्वर वादियों के अनुसार भक्त स्वयं को ईश्वर को समर्पित कर देता है। ईसाई रहस्यवाद के अनुसार उपासक ईश्वर से संबंधित हो जाता है। इस्लामिक अनुभव वाद के अनुसार मनुष्य ईश्वर प्राप्त कर लेता है तब उसी के अनुसार कार्य करता है। यह सभी उदाहरण एक रहस्यवादी द्वारा ईश्वर प्राप्ति के विविध रूपों को दर्शाते हैं।

किंतु धार्मिक अनुभूति में ईश्वर साक्षात्कार अनिवार्यतः हो यह आवश्यक नहीं। अनिवार्यता तभी होगी जब वह ईश्वरवादी रहस्यवादी हो। ऐसी भी अनुभूति संभव है जिसमें ईश्वर की अनुभूति न हो, यथा बौद्ध तथा जैन रहस्यवाद। इस प्रकार निरीश्वरवादी धर्म में धार्मिक अनुभूति तो संभव है किंतु ईश्वर से सक्षात्कार अनिवार्यतः संभव है किंतु ईश्वर से साक्षात्कार अनिवार्यतः संभव नहीं।

7.5 समीक्षा

उपर्युक्त सिंद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक ओर तो वह दिब्यानुभूति को ऐसा निर्बौद्धिक तत्व मानते है जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है और दूसरी ओर वे इस तत्व का सविस्तार वर्णन भी करते हैं जिसमें उनके विचारों में असंगति आ जाती है। दूसरी आलोचना यह हे कि जिन भावनाओं को वे धार्मिक अनुभव की अनिवार्य भूल विशेषताएं मानते है वे मनुष्य की सामान्य अनुभव के साथ भी संबद्ध हो सकती है। पुनः मनुष्य की व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की वस्तुनिष्ठ सत्ता और उसके विशेष स्वरूप का जो दावा किया है, वह उचित एवं युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

इन आलोचानाओं के बावजूद कुछ समकालीन दार्शनिकों ने धार्मिक अनुभव के विषय में आटो के इस निष्कर्ष को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया है कि यह अनुभव अवर्णनीय है। जिसमें विटगंेस्टाइन एवं मैकफरसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। धार्मिक अनुभव के विषय में '' ट्रेक्टेटस लाजिकों फिलासाफिकस'' में विटगेंस्टाइन का मत है कि यह अनुभव रहस्यात्मक होने के कारण वस्तुतः अवर्णनीय हो इसका संबंध ऐसी रहस्यात्मक सत्ता से हे जिसके विषय में सार्थकता पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। थामस मैकफरसन भी यह मानते हैं कि धर्मविषयक कुछ बातों के संबंध में हमारे लिए मौन रहना ही एकमात्र उचित विकल्प है क्योंकि उनके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते।

किन्तु यहां कठिनाई यह है कि ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव को धर्मदर्शन की परिधि से परे मानना पड़ेगा, जिसके कारण इस अनुभव के स्वरूप की व्याख्या और उनकी प्रमाणिकता की व्याख्या करना संभव नहीं होगा।

7.6 रहस्यवाद

प्राचीन काल से सभी धर्मांे के महान संत यह दावा करते हैं कि उन्होंने जीवन से ऐसा अनुभव प्राप्त कर लिया है जो सांसारिक अनुभव से नितांत भिन्न है। इसी कारण रहस्यात्मक अनुभव कहा जा सकता था। रहस्यवाद

का संबंध उनके इसी अनुभव से है। उनके अनुसार यह ऐसा अनुभव जिसके विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है अर्थात् रहस्यवाद वह स्थिति है जिसमें पंहुचकर मनुष्य मौन रहने के अतिरिक्त और कुछ ही नहीं कर सकता क्योंकि वह भाषा के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाता है।

रहस्यवाद को स्पष्ट करते हुए केयर्ड ने कहा कि रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें सभी प्रकार का संबंध आत्मा और ईश्वर के संबंध विहीन हो जाता है। प्रो0 ब्राइटमैन ने इसे दैवीय सत्ता की अपरोक्षानुभूति कहा है, एडोल्फ आटो ने इसे विलक्षण तथा अपने आप में अनूठा कहा है। उपनिषद ने इसके बारे में नेति-नेति कहा है, उपनिषद ने इसके बारे में नेति -नेति को ही साधन बताया।

रहस्यवाद की परंपरा सभी भारतीय धर्मंि के अतिरिक्त मुस्लिम, ईसाई आदि पाश्चात्य दर्शनों में दिखलाई पड़ती है। इन सभी धर्मों के अनेक महान संतों को रहस्यवादी कहा जाता है, यद्यपि उपनिषद, योग संबंधी साहित्य, बौद्ध ग्रन्थों, सूफी साहित्य एवं ईसाई धर्म के साहित्य में रहस्यवाद का विस्तृत वर्णन मिलता है। किंतु भारतीय एवं पाश्चात्य रहस्यवाद में महत्वपूर्ण अंतर परिलक्षित होते हैं।

7.7 भारतीय रहस्यवाद की विशेषताएं

भारतीय रहस्यवाद, उपनिषदीय रहस्यवाद कहलाता है, जिसकी महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नवत है:-

भारतीय रहस्यवाद में साधक और ईश्वर दोनों एक है मनुष्य और ईश्वर दो अलग-अलग अर्थात् द्वैत नहीं है अपना ज्ञान होना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। मनुष्य को अपनी चेतना होना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। जब साधक ईश्वर और स्वयं को एक समझ लेता है तो वह ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

भारतीय रहस्यवाद में अविद्या को ईश्वर साक्षात्कार में बाधक और गुरू को सहायक माना है। अविद्या को दूर करना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। अविद्या का तात्पर्य ईश्वर को अपने से अलग समझना। गुरू के द्वारा ही हम अविद्या से दूर हो सकते हैं। यह गुरू की महान शक्ति से प्राप्त होता है। गुरू अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा शिष्य को ऊपर उठाता है, ईश्वर को प्राप्त करना उसका लक्ष्य है।

भारतीय परंपरा में प्रत्येक गुरू ने अलग-अलग ढंग से ईश्वर को प्राप्त करने की अवस्थाएं बतलायी हैं इन अवस्थाओं का निश्चित मापदंड नहीं है, यहां बुद्ध एवं पतंजलि द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की अवस्थाओं का वर्णन महत्वपूर्ण है। भारतीय रहस्यवाद को स्पष्ट करने हेतु इनका वर्णन अपरिहार्य है। बुद्ध ने चार अवस्थायें बतायी है -

1. संसार की भौतिक इच्छाओं अथवा अशुभ से विरक्त हो।
2. लगातार हर समय सन्यासी के रूप में रहना।
3. पुनः विरक्त हुए सन्यासी के रूप में रहना।
4. मानसिक क्रियाओं को एकत्रित करना एवं ध्यान लगाना।

इन सभी अवस्थाओं की प्राप्ति के बाद निर्वाण प्राप्त हो जायेगा अर्थात् भक्त ईश्वर सदृश हो जायेगा।
पतंजली ने ईश्वर को योग द्वारा प्राप्त रकने को कहा है। इसके लिए उन्होंने समाधि की अवस्था का चित्रण किया है। इस अवस्था में मन अपने ध्येय विषय में पूर्णतयः लीन हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसको अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, आत्मा या नामधारी व्यक्ति स्वूमत ैमस िअपने वास्तविक स्वरूप भ्पहीमत ैमस ि को पहचान लेती है और मोक्ष को प्राप्त करती है।

7.8 समीक्षा

भारतीय रहस्यवाद की उपर्युक्त विशेषताओं पाश्चात्य रहस्यवादियों ने आपत्ति प्रगट की है, भारतीय और पाश्चात्य रहस्यवादियों के दृष्टिकोण में अंतर होने के फलस्वरूप पाश्चात्य रहस्यवादियों ने आरोपलगाया कि भारतीय रहस्यवाद केवल अपने आप से संबंध रखता है, यहां पर प्रत्येक मनुष्य अपने निर्माण की प्राप्ति के बारे में सोचता है न कि समाज के बारे में। भारतीय रहस्यवादी स्वार्थवादी है सामाजिक नहीं क्योंकि यह व्यक्तिगत उन्नति में सहायक है।

पुनश्च स्वयं को ईश्वर के आधीन करना अथवा गुरू आधीन होना निष्क्रियता का परिचायक है। रहस्यवादी अपने ऊपर विश्वास न करके ईश्वर पर विश्वास करता है। यहां रहस्यवादी ईश्वर के ऊपर सभी इच्छाओं और कार्यों को छोड़कर अकमर्ण्य हो जाता है। जहां तक नैतिकता का प्रश्न है साधक सामाजिक नैतिकता के विषय में विचार नहीं करता है।

वस्तुतः पाश्चात्य रहस्यवाद का आधार ईसाई धर्म का धर्मग्रंथ बाइबिल है, और उसी के अनुरूप आचरण किया जाता है। पाश्चात्य रहस्यवाद के अनुसार ईसामसीह के गुणों के आधार पर चलना चाहिए, उनके अनुसार ईसामसीह को प्राप्त करना ईश्वर को प्राप्त करना है। भारतीय रहस्यवाद से भिन्न इसमें से ईश्वर से एक होना नहीं बताया गया है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना और ईश्वर से संबंध रखना ताकि हमारा नैतिक जीवन सुधर सके। संत मास्टर एकहर्ट के अनुसार ''आत्मा आत्मा है ईश्वर, ईश्वर है। हम मनुष्य की आत्मा ईश्वर से एक नहीं है।''
जहां तक ज्ञान का प्रश्न है ईश्वर का ज्ञान तभी संभव है, जब हम ईश्वर मार्ग पर चलें। मनुष्य को अपना जीवन सुधारना चाहिए, तब वह ईश्वर से संबंध रख सकता है। स्वयं को अथवा अपने मन को बाहरी जगत से अलग करना और अशुभ से दूर रहना।

पाश्चात्य रहस्यवादियों ने ध्यान पर विशेष बल दिया है। साधक को स्वयं के बारे में ध्यान करके अपनी खराबियों को दूर करके ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर साक्षात्कार के विषय में रहस्यवादियों का मत है कि ईसा मशीह को देखना, ईसा मसीह को प्राप्त करना है।

मुस्लिम ने अपने रहस्यवाद का नाम सूफीज रखा, मुस्लिम रहस्यवाद की अंतिम परिणति फना है। सूफीज शब्द का तात्पर्य खुदा में एक हो जाना है। सूफीज कहते हैं '' हमे सत्य अर्थात् ईश्वर की खोज करना है। जिस तरह नदी का जल ममुद्र में जाकर अपना अस्तित्व समाप्त कर लेता है, उसी तरह हमे अपनी रूह खुदा में एक करना है अर्थात् फना करना है।
फना तक पंहुचने के लिए इस्लाम में भी ईश्वर मार्ग बताया गया है, जो तरीका कहलाता है। तरीका ईश्वर तक पंहुचने का मार्ग है। ईश्वर मार्ग की विभिन्न अवस्थाएं तौबा, तर्क ए दुनिया, फकीरी, मुहब्बत, इश्क, तजली, है। इन सभी अवस्थाओं के पश्चात् ईश्वर का ज्ञान होगा जो मुस्लिम में मार्फत कहलाता है। ईश्वरी ज्ञान हो जाने के बाद हम और ईश्वर एक हो जाते हैं अर्थात फना हो जाते हैं। जो वह ईश्वर करेगा हम करेंगें, जिस व्यक्ति की आत्मा यहां तक पंहुचती है वह सूफी कहलाता है।

7.9 सारांश

इस प्रकार भारतीय, ईसाई एवं मुस्लिम रहस्यवाद के उपर्युक्त वर्णन से प्राच्य एवं पाश्यात्य रहस्यवाद में अंतर स्पष्ट होता है। स्पष्ट है कि भारतीय रहस्यवाद में मनुष्य अपने को ईश्वर समझता है और अविद्या को ईश्वर से अलग होने का कारण मानता है। जबकि मुस्लिम एवं ईसाई रहस्यवाद में ऐसा नहीं है। ईसाई रहस्यवाद अपने को ईश्वर से एक नहीं मानता है, मुस्लिम रहस्यवाद के अनुसार हमको ईश्वर में एक होना है, हमको स्वयं को ईश्वर में मिटाना है।

भारतीय रहस्यवाद में जितनी अवस्थाएं है उनका संबंध उनके धर्म ग्रन्थों, वेद, उपनिषद, आदि में है। मुस्लिम में सूफी, कुरॉन से अलग है। सुफी मुस्लिम नहीं होते, मुस्लिम सूफी होते हैं। ईसाई भी पूर्ण रूपेण बाइबल पर आश्रित नहीं होते। पाश्चात्य में साधक जगत में विरक्त नहीं होता है। जबकि भारतीय रहस्यवाद में जगत से विरक्त होने को कहा गया है, इस्लामिक रहस्यवाद में वाह्य दुनिया में रहकर दुनिया की तरक्की करना चाहता है। तथापि धर्म से संबंधित अलौकिक अनुभूति सामान्यतः सभी में समान रूप से पायी जाती है जो इन सभी को रहस्यवादी बनाती है और धार्मिकता का चरम विन्दु हैं।

7.10 बोध- प्रश्न

1. धार्मिक अनुभूति का स्वरूप किस प्रकार का होता है समझाइए।
2. रहस्य अनुभूति से आप क्या समझते हैं विवेचना कीजिए।

3. धार्मिक अनुभूति एवं रहस्य अनुभूति की कमियों का वर्णन कीजिए।

7.11 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।
2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

.....0000.....

DECPH-101(N)

धर्म दर्शन

खण्ड–3

खण्ड परिचय

विश्व के अधिकांश धर्मो में ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किया जाता है। किसी मूर्त या अमूर्त वस्तु के जब 'अस्तित्व' की बात की जाती है; तो उसका तात्पर्य होता है कि वह वस्तु यथार्थ में या तर्कतः हमारे अनुभव या तर्क बुद्धि का विषय बन सकती है। विश्व में प्रचलित विभिन्न धर्मो एवं धर्मशास्त्रों में ईश्वर को एक स्वतंत्र वस्तुंपरक सत्ता के रुप में स्वीकार किया जाता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले सभी धर्मपरायक व्यक्ति ईश्वर को एक ऐसी व्यक्तिवपूर्ण सत्ता के रुप में वर्णन करते हैं, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, परम दयालु, असीम करुणा से युक्त, प्रेम का आगार एवं शाश्वत, अनादि और परम शुभ सत्ता है। धर्मपरायण व्यक्ति इस प्रकार के ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता माना है। ईश्वर धर्मपरायण व्यक्ति इस प्रकार के ईश्वर देश एवं काल से अतीत एवं मानवीय केन्द्रक अनुभव और तर्क से भी परे माना है। इसीलिए ईश्वर को आगम और अगोचर भी कहा जाता है।

ईश्वर के अस्तित्व को लेकर जो प्रमुख सवाल उठता है वह यह है कि क्या ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिया जा सकता है? जहाँ तक धर्म परायण ईश्वरवादी व्यक्ति का सवाल है; तो वह ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण एवं आत्मग्रसन से युक्त होता है कि उसके लिए ईश्वर का ज्ञान न तो वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित होता है और न ही तार्किक ज्ञान पर आधारित होता है; अपितु केवल उसके विश्वास और आस्था पर आधारित होता है। अतएव धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रकट करता है। ईश्वर के अस्तित्व को लेकर धार्मिकों में ही नहीं; बल्कि दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों में भी विशेष आकर्षण रहा है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए अब तक जितने भी प्रमाण दिये गये हैं उन्हें दो वर्गो में विभक्त किया जा सकता है–

(I) प्रथम वर्ग में वे प्रमाण आते हैं जो अनुभव पर आधारित हैं इसलिए इस प्रकार के प्रमाण को अनुभवाश्रित प्रमाण (A posteriori Arguments) कहते हैं। इस प्रकार के प्रमाण के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमाण आते हैं।

1. सृष्टिमूलक या कारणमूलक प्रमाण (Cosmological or Causal Argument)
2. प्रयोजनमूलक या उद्देश्यमूलक प्रमाण (Teleological Argument)
3. धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण (Argument of Religious Experience)
4. नैतिक प्रमाण (Moral Argument)

(II) दूसरे वर्ग में ऐसे प्रमाण है; जो अनुभव से स्वतंत्र हैं। इस प्रकार के प्रमाण को प्रागनुभाविक (Apriori Argument) कहा जाता है और इस प्रकार के प्रमाण के अन्तर्गत सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Argument) आता है।

5. प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Argument)

अब हम ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिए गये प्रमाणों के सभी इकाई में एक सामान्य परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इस खण्ड के इकाई–1 में 'प्रागनुभाविक प्रमाण' के रुप में ईश्वर के अस्तित्व के दिये गये प्रत्ययमूलक के प्रमाण का वर्णन किया गया है। खण्ड के इकाई–1 में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रत्ययमूलक प्रमाण को स्पष्ट करते हुए विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा इसके पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्को की समीक्षा करते हुए निष्कर्ष के रूप में इस तर्क की महत्ता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इकाई–2 खण्ड के इकाई–2 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक युक्ति या कारणमूलक युक्ति को विवेचन का विषय बनाया गया है। यह प्रमाण धर्म परायण व्यक्ति के अनुभव पर आधारित होने के कारण इसे 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के रूप में जाना जाता है। इस प्रमाण के अन्तर्गत ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए ग्रीक दार्शनिकों से लेकर समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों एवं भारतीय दार्शनिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्को का उल्लेख करते हुए एक सम्यक् निष्कर्ष देने का प्रयासा किया गया है।

इकाई–3 खण्ड के इकाई–3 में ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये प्रयोजनमूलक तर्क भी अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के रूप में जाना जाता है। इस प्रमाण में विश्व में विद्यमान व्यवस्था की सुसंगति एवं सामज्जस्य के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

इकाई–4 खण्ड के इकाई–4 में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभव पर आधारित तर्को को ग्रहण किया गया है। यह प्रमाण भी धार्मिक अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के अंतर्गत रखा जाताा है। प्रयोजनमूलक प्रमाण न केवल दार्शनिकों बल्कि वैज्ञानिकों के भी आकर्षण का केन्द्र रहा है।

इकाई–5 खण्ड के इकाई–5 में ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये नैतिक प्रमाण का वर्णन किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये सभी प्रमाणों में नैतिक प्रमाण को विशेष महत्व दिया जाता है। यह प्रमाण भी धार्मिक अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' कहलाता है। प्रायः धर्म और नैतिकता दोनों में ही ईश्वर को केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। धर्म में अतीन्द्रिय ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जो मार्ग बताये गये हैं। वे मार्ग नैतिकता से ही होकर जाते हैं। जहाँ धर्म नैतिकता को अतीन्द्रिय लक्ष्य प्रदान करता है, वहीं नैतिकता भी धर्म के अतीन्द्रिय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग को भी प्रशस्त करती है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये नैतिक तर्क की अधिकांश धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने अनुशंशा की है और इसे ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए उपयुक्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इकाई–08 – सत्तामूलक युक्ति

इकाई की रूपरेखा–

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 प्रत्ययमूलक प्रमाण या सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण

8.3 प्रत्ययमूलक प्रमाण का आरम्भिक रूप

8.4 सन्त ऐन्सेलम का प्रत्ययमूलक प्रमाण

8.5 सन्त ऐन्सेलम के प्रमाण का उनके समकालीन दार्शनिक गैनिलों द्वारा खण्डन

8.6 समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिकों का प्रत्ययमूलक प्रमाण पर दृष्टिकोण

8.7 समकालीन दार्शनिक मॉल्कॉम का ऐन्सेलम के पक्ष में तर्क

8.8 आधुनिक दार्शनिक डेकार्ट का प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

8.9 डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादी दार्शनिक स्पनोजा एवं लाइबनित्ज का प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

8.10 डेकार्ट के समकालीन दार्शनिक गैसेण्डी द्वारा डेकार्ट के तर्क का खण्डन

8.11 आधुनिक दार्शनिक काण्ट द्वारा डेकार्ट के प्रत्ययमूलक प्रमाण का खण्डन

8.12 जी0 ई0 मूर द्वारा काण्ट के मत का समर्थन

8.13 समकालीन दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण का खण्डन

8.14 आधुनिक दार्शनिक हेगल, बोसांके, के अर्ड, नार्मन मॉल्कम एवं चार्ल्स हार्डशो द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

8.15 निष्कर्ष

8.16 सारांश

8.17 प्रश्न बोध

8.18 उपयोगी पुस्तक

8.0 उद्देश्य

धर्म दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, उन सभी दार्शनिकों के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये प्रमाणों का उल्लेख करते हुए सम्यक् विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत इकाई में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दिये गये विभिन्न दार्शनिकों के प्रत्ययमूलक प्रमाण की सम्यक् परीक्षण किया गया है। प्रत्यय मूलक प्रमाण का उद्देश्य प्रागनुभाविक आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है।

8.1 प्रस्तावना

प्रत्ययमूलक प्रमाण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि ईश्वर की सत्ता के प्रत्यय से ही स्पष्ट हो जाती है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिया गया प्रत्ययमूलक प्रमाण बोध कराता है कि ईश्वर है। प्रत्ययमूलक प्रमाण का शाब्दिक अभिप्राय है कि ईश्वर के प्रत्यय (विचार) में ही ईश्वर की सत्ता निहित रहती है। ऐसा संभव नहीं है कि हम ईश्वर के प्रत्यय को स्वीकार करें और उसकी सत्ता को अस्वीकार करें। अतएव ईश्वर प्रत्यय का सारतत्व ही है कि ईश्वर का जिस रूप में प्रत्यय हमाने मन में है; उस प्रत्यय के अनुरुप ईश्वर की सत्ता है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों में ईश्वर के प्रत्यय को शाश्वत नित्य एवं निरपेक्ष सत्ता माना गया है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने सर्वप्रथम प्रत्ययों की अनुकृति और अभिव्यक्ति बताया है। प्लेटों ने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया है कि **सर्वोच्च प्रत्यय शुभ का प्रत्यय है और इसी की वास्तविक सत्ता है, क्योंकि यह ही पूर्ण सत्ता है।** कालान्तर में आगस्टाइन ने यह दिखाया कि प्रत्ययों का सारतत्व ही है उनके अनुरुप सत्ता भी हो। प्रत्ययमूलक प्रमाण के प्रमुख दार्शनिक सन्त एन्सेलम को माना जाता है। सन्त एन्सेलम के अतिरिक्त डेकार्ट, लाइबनित्ज, हेगल, केयर्ड आदि ने इस प्रमाण का समर्थन किया और इसके पक्ष में अपने तर्क दिये हैं।

8.2 प्रत्ययमूलक प्रमाण या सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण

ईश्वर की सत्ता के लिए सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण में ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने के आधार पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिये गये अन्य सभी प्रमाणों में प्रत्ययमूलक प्रमाण इस अर्थ में अन्य सभी प्रमाणों

से भिन्न है क्योंकि इसमें विशुद्ध प्रत्यय के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया जाता है।

8.3 प्रत्ययमूलक प्रमाण का आरम्भिक रूप

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यय रुपी प्रमाण का आरम्भिक रूप ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में मिलता है; जिसके अन्तर्गत वे शुभ को सर्वोच्च या परम प्रत्यय के रूप में वर्णित किया है और उसे ईश्वर की संज्ञा से अभिहीत किया है। पन्तु ईश्वर के लिए सत्ता–प्रत्ययमूलक प्रमाण का व्यवस्थित मध्यकालीन ग्रीक दार्शनिक सन्त एन्सेलम के दर्शन में व्यक्त हुआ है। यही कारण है सन्त एन्सेलम को ही सत्ता मूलक प्रमाण का प्रणेता माना जाता है। प्रत्ययमूलक या सत्तामूलक प्रमाण के अन्तर्गत विशुद्ध विचार या प्रत्ययों के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। ग्यारहवीं शतीं के मध्यकालीन दार्शनिक सन्त एन्सेलम ने अपने ग्रन्थ Proslogion के अध्याय 2 में यह विचार व्यक्त किया ''ईश्वर एक ऐसी सत्ता है, जिससे महानतर सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है।''

8.4 सन्त एन्सेलम का प्रत्ययमूलक प्रमाण

सन्त एन्सेलम की यह धारणा है कि ईश्वर वह पूर्ण सत्ता है, जिसके अनास्तित्व का विचार ही नहीं किया जा सकता है। पूर्ण सत्ता का तात्पर्य ऐसी सत्ता से है, जिससे उच्चतर कोई अन्य सत्ता न हो। इस प्रकार पूर्ण सत्ता उसे माना जाएगा जो विचार और यथार्थ दोनों में ही सत् हो। अतएव उपर्युक्त वर्णन में एन्सेलम ने अस्तित्व को ईश्वर–प्रत्यय का सारगुण मान लिया। Proslogion ग्रन्थ में अन्यत्र सन्त एन्सेलम ने सत्तामूलक युक्ति कोई मूर्ख अपने मन में यह सोच सकता है कि क्या कोई मूर्ख अपने मन में यह सोच सकता है कि ईश्वर नहीं है? यह तभी तर्कसंगत हो सकता है, जब ईश्वर का अस्तित्व एवं अनास्तित्व दोनों ही संभव हो, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व एवं अनास्तित्व दोनों की कल्पना करना एक प्रकार से वदतोत्याघात है। यहाँ एन्सेलम यह प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर को पूर्ण कहना और उसकी सत्ता का निषेध करना परस्पर व्याघाती बातें है। अतएव एन्सेलम के अनुसार

ईश्वर सत्ता की पूर्ण आपातिक सत्ता न होकर अनिवार्य सत्ता है और उसे ईश्वर के पूर्णता के प्रत्यय में ही अन्तर्निहित माना जा सकता है एवं ईश्वर के प्रत्यय से ही तार्किक दृष्टि से निगमित किया जा सकता है।

सन्त एन्सेलम के समकालीन गैनिलो (Gaunilo) ने सन्त एन्सेलम के सत्तामूलक प्रमाण का खण्डन करते हुए कहा कि यदि इस प्रमाण को स्वीकार करें,तो किसी कभी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित हो सकती है।उनका कहना है कि इस प्रमाण को स्वीकार करें; तो किसी भी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित हो सकती है। उनका कहना है कि इस प्रमाण के आधार पर हम एक ऐसे पूर्ण द्वीप की कल्पना कर सकते हैं जो सभी दृष्टियों से पूर्ण है। क्या विचारमात्र से ही पूर्ण द्वीप एवं सभी दृष्टियों से परिपूर्ण द्वीप वास्तविक रुप से अस्तित्वमान हो जाता है? जब तक पूर्ण द्वीप का विचार वास्तविक एवं यथार्थ न हो तब तक द्वीप की पूर्णता बाधित होती है। इसलिए गैनिलो का यह कहना है कि – ''किसी वस्तु का विचार में होना एक बात है तथा उसका यथार्थ एवं वस्तुपरक होना बिल्कुल दूसरी बात है, इन दोनों बातों में कोई अन्तर्सम्बन्ध नहीं है। यदि हम सत्तामूलक प्रमाण को स्वीकार करते है; तो किसी भी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित कर सकते हैं।''

8.5 सन्त ऐन्सेलम के प्रमाण का उनके समकालीन दार्शनिक गैनिलों द्वारा खण्डन

गैनिलो की उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए एन्सेलम ने कहा कि उनका सत्तामूलक तर्क केवल पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय पर ही लागू होता है; क्योंकि ईश्वर का प्रत्यय समस्त सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः के अनास्तित्व की कल्पना की जा सकती है, किन्तु ईश्वर अनिवार्य सत्ता होने के कारण उसके अनास्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।

8.6 समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिकों का प्रत्ययमूलक प्रमाण पर दृष्टिकोण

समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने एन्सेलम के उपर्युक्त तर्क का निराकरण करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि– ''हम केवल विश्लेष्णात्मक प्रतिज्ञाप्तियेां के सम्बन्ध में ही अनिवार्यता की बात सार्थकतापूर्वक कर सकते हैं। ईश्वर के अनिवार्य सत्ता की बात करना निरर्थक, दोषपूर्ण एवं भ्रामक हैं ईश्वर को अनन्य एवं अद्वितीय कहकर उसकी सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।''

8.7 समकालीन दार्शनिक मॉल्कॉम का ऐन्सेलम के पक्ष में तर्क

परन्तु समकालीन दार्शनिक माल्कॉय ने सन्त एन्सेलम के विचार के पक्ष में तर्क देते हुए कहा है कि ईश्वर अनिवार्य वास्तविकता साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित नहीं है और न ही इसे संज्ञानात्मक ही माना जा सकता है; किन्तु धार्मिक दृष्टि इसका विशेष महत्व है। ईश्वर की अनिवार्य सत्ता के कारण ही जीवन के प्रति स्थिरता का भाव उत्पन्न होता है, जिसके बिना एक क्षण भी नही रहा जा सकता है।

8.8 आधुनिक दार्शनिक डेकार्ट का प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

आधुनिक दर्शन के जनक महान बुद्धिवादी दार्शनिक रेने देकार्त ने एन्सेलम के सत्तामूलक प्रमाण को संशोधित रुप में प्रस्तुंत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है– ''जिस प्रकार त्रिभुत के ज्ञान में ही यह ज्ञान निहित है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है; उसी प्रकार ईश्वर के पूर्णता में यह भी निहित है कि ईश्वर का अस्तित्व है। यदि ईश्वर में अस्तित्व का अभाव होगा तो उसे अपूर्ण कहा जाएगा। अतः ईश्वर की पूर्णता में ही उसका अस्तित्व भी अन्तर्निहित है।

अनेक समीक्षकों ने देकार्त के उपर्युक्त तर्क को सन्त एन्सेलम के तर्क की अनुकृतिमात्र कहा है, किन्तु देकार्त पर इस प्रकार आरोप लगाया जाना उचित नहीं है। एन्सेलम के तर्क में ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता पर निर्भर है; जबकि देकार्त का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व के कारण मानव में ईश्वर विषयक विचार उत्पन्न होता है। एन्सेलम के अनुसार ईश्व रवह है जिससे उच्चतर सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है; जबकि देकार्त ने ईश्वर सर्वोपरि पूर्णसत्ता कहा है।

देकार्त ने सत्तामूलक प्रमाण को एक अन्य रुप में भी व्यक्त करते हुए यह कहा है कि– ''मेरी बुद्धि में पूर्ण एवं अनन्त ईश्वर का विचार है। इस विचार का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता, अपितु ईश्वर स्वंय है; जो पूर्ण एवं अनन्त है।'' इस प्रकार देकार्त ने ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णता के प्रत्यय के रुप में परिभाषित किया।

8.9 डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादी दार्शनिक स्पनोजा एवं लाइबनित्ज का प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

देकार्त के पश्चात् उसके परवर्ती दार्शनिक स्पिनोजा एवं लाइबनीत्ज ने भी ईश्वर के अस्त्वि के लिए देकार्त के द्वारा दिये गये सत्तामूलक प्रमाण का ही प्रकारान्तर से समर्थन किया

है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर का विचार एक अनन्त द्रव्य का विचार है। 'अस्तित्व' अनन्तता के अनेक गुणों में से एक है। ईश्वर की सत्ता उसके पूर्ण एवं अनन्त विचार में ही अन्तर्निहित है।

लाइबनीत्ज के अनुसार ''यदि ईश्वर संभव है तो उसकी सत्ता है; क्योंकि उसका अस्त्वि उसकी संभावना का अनिवार्य परिणाम है।''

8.10 डेकार्ट के समकालीन दार्शनिक गैसेण्डी द्वारा डेकार्ट के तर्क का खण्डन

परन्तु देकार्त के ही समकालीन दार्शनिक गैसेन्डी ने बुद्धिवादी दार्शनिकों के ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये सत्तामूलक प्रमाण का खण्डन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि– 'कोई भी प्रत्यय क्यों न हो, उसके अनुरुप वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं है। ईश्वर का प्रत्यय कितना ही पूर्ण प्रत्यय क्यों न हो, ऐसा ही प्रत्यय क्यों न हो जिससे वृहत्तर प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती है; तो भी इस प्रकार के प्रत्यय के अनुरुप वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं माना जाएगा।''

आधुनिक दार्शनिक काण्ट ने देकार्त तथा अन्य द्वारा प्रस्तुत सत्तामूलक प्रमाण की तीव्र आलोचना किया है। उनका कहना है कि विचार के द्वारा किसी भी वस्तु की वास्तविकता सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। उनका यह कहना है कि यदि हमारे मन में सौ डालर के विचार मात्र से मेरे जेब में वास्तव में सौ डालर आ जायेगे। अतएव सम्प्रत्यय और वास्तविकता दो अलग–अलग बातें हैं; जिन्हें एक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए।

8.11 आधुनिक दार्शनिक काण्ट द्वारा डेकार्ट के प्रत्ययमूलक प्रमाण का खण्डन

काण्ट ईश्वर के सत्तामूलक तर्क के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह भी कहते हैं कि ''यद्यपि सत्तामूलक प्रमाण समस्त ईश्वर सम्बन्धी तार्किक चिन्तन का आधार है; किन्तु यह निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि वस्तु का गुण नहीं है। अस्तित्व विधेय नहीं है।''

काण्ट ने ईश्वर के विचार से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है' को एक विश्लेषणात्मक कथन माना है और उसकी सत्यता को सोपाधिक माना है। काण्ट के अनुसार यह एक प्रकार की पुनरूक्तिमात्र है; जिसका कोई अर्थ नहीं होता है जैसे 'सभी कुँआरे अविवाहित

है'। अतएव ईश्वर की वास्तविक सत्ता का अनुमान ईश्वर के विचार मात्र से नही किया जा सकता है।

8.12 जी0 ई0 मूर द्वारा काण्ट के मत का समर्थन

काण्ट के मत समर्थन करते हुए जी0ई0 मूर ने भी यह कहा है कि 'सत्ता' एंव 'गुण' में स्पष्ट भेद है। सत्ता को गुण नहीं माना जा सकता है। जी0. ई0 मूर का यह कहना है कि ''केवल किसी वस्तु की परिभाषा के द्वारा उसे अस्तित्व में नही लाया जा सकता है। परिभाषाएँ गणित तर्कशास्त्र के क्षेत्र में उपयुक्त हो सकती है; वास्तविकता के क्षेत्र में नहीं।''

8.13 समकालीन दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण का खण्डन

समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल का मानना है कि जब हम कोई वर्णनात्मक वाक्य बोलते हैं, तब यह मान लिया जाता है कि इस वाक्य का सम्बन्ध उस वस्तु से है; जैसे– 'बिल्ली का अस्तित्व है' इस वाक्य का तात्पर्य हो जाएगा कि 'बिल्ली जिसका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व है। इस प्रकार यह वर्णनात्मक वाक्य एक पुनर्कथन होगा। इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि 'ईश्वर का अस्तित्व है, तो यह वर्णनात्मक वाक्य एक पुनकर्थनमात्र होगा। अतएव जब 'अस्तित्व' को 'गुण' मान लिया जाता है, तो उसे पहले से ही स्वीकार करके सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

8.14 आधुनिक दार्शनिक हेगल, बोसांके, के अर्ड, नार्मन मॉल्कम एवं चार्ल्स हार्डशो द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

आधुनिक युग में हेगल, बोसांके, केअर्ड, नार्मन मॉल्कम, चार्ल्स हार्डशो इत्यादि दार्शनिकों ने सत्तामूलक प्रमाण का समर्थन किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि सत्तामूलक प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्ययवादी दार्शनिक हेगल का कहना है कि– ''काण्ट ने ईश्वर के सिद्धि के लिए सत्तामूलक प्रमाण के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठायीं है, वे आपत्तियाँ केवल सांसारिक वस्तुओं के ऊपर लागू होती हैं; ईश्वर

पर नहीं। ईश्वर का विचार सामान्य प्रकार का विचार न होकर असाधारण एवं अद्वितीय प्रकार का विचार है।''

हेगल ने काण्ट के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के लिए सत्तामूलक प्रमाण के सम्बन्ध में उठायी गयी आपत्ति के विषय में यह भी कहा है कि ''काण्ट ने स्वंय 'प्रत्यय' एवं 'सत्ता' के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। जब काण्ट यह कहता है कि 'बिना प्रत्यक्ष के प्रत्यय रिक्त है' तथा प्रत्यय के बिना प्रत्यक्ष अन्ध है'; तो काण्ट अपने इस कथन मं 'प्रत्यय' एवं 'सत्ता' के स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है।'' हेगल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'प्रत्यय' एवं 'सत्ता' के बीच यह सम्बन्ध 'ईश्वर की सत्ता' में सर्वोच्च अवस्था में होता है तथा 'ईश्वर' एवं 'सत्ता' यह सम्बन्ध कोई बाह्य सम्बन्ध न होकर आन्तरिक सम्बन्ध है, क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं में एक अन्तर्निहित आन्तरिक सम्बन्ध है। क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं में एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है; जो उसे निरपेक्ष प्रत्यय की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती रहती है। अतएव 'प्रत्यय' में 'अस्तित्व' अन्तर्निहित है।

प्रत्ययवादी दार्शनिक बोसांके का तो यहां तक कहना है कि ''सौ डालर के प्रत्यय से यह नहीं सिद्ध होता है कि मेरे पास सौ डालर हैं, किन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि यदि 'डालर का प्रत्यय' है; तो उसका 'अस्तित्व' भी कहीं अवश्य है।''

8.15 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ईश्वर के अस्त्वि के सम्बन्ध में सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण का समर्थन में जितने भी तर्क दिये गये है; उनका प्रत्युत्तर भी विभिन्न दार्शनिकों द्वारा दिया गया है। इसलिए सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्त्वि के सिद्ध किये जाने में जो कठिनाई थी वह ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर के प्रत्यय से यह ही नहीं सिद्ध होता है कि ईश्वर एक वास्तविक सत्ता है। किसी भी वस्तु की वास्तविक सत्ता तभी मानी जा सकती है, जब उस प्रत्यय से सुसंगत कोई सत्ता हो। जहाँ तक ईश्वर के पूर्ण 'प्रत्यय का सवाल है तो उसके अनुरुप विश्व में कोई सत्ता दृष्टिगोचर नही होती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि सत्तामूलक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रहता है।

8.16 सारांश

सत्तामूलक प्रमाण को तत्वमूलक युक्ति अथवा प्रत्यय–सत्तामूलक प्रमाण भी कहते है। प्रमाण के रूप में यह ईश्वर की सिद्धि के लिए दिया गया प्रागनुभाविक प्रमाण है। इस प्रमाण प्रमुख रुप यह अर्थ सन्निहित है कि– 'ईश्वर के प्रत्यय में ही उसकी सत्ता भी अन्तनिर्हित है।' ईश्वर का प्रत्यय पूर्णता का प्रत्यय है। ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण एवं अनन्त प्रत्यय है। पूर्ण और अनन्त प्रत्यय में सत्ता का भी समाहित होना तर्कतः सिद्ध होता है। अतएव ईश्वर विषयक विचार से ईश्वर की सत्ता को अलग कर दिया जाय; तो यह आत्मविरोधी हो जाएगा और इससे ईश्वर की पूर्णता खण्डित हो जाएगी। ईश्वर का प्रत्यय सांसारिक वस्तुओं की भांति नहीं है। सांसारिक वस्तुओं के विचारमात्र से उसकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती है। यदि ईश्वर को अस्तित्वरहित सम्प्रत्यय माना जाए तो वह सम्प्रत्यय न होकर प्रत्ययभास होगा और ऐसे प्रत्यय वाले ईश्वर का हमारे लिए कोई महत्व नहीं होगा। प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों में सन्त एन्सेलम, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनित्ज और अन्य सभी प्रत्ययवादी दार्शनिक जैसे हेगल बोसॉकें केअर्ड, माल्कॉम, चार्ल्स हार्ड शो आदि उल्लेखनीय है। प्रत्ययमूलक प्रमाण के विपक्ष में तर्क देने वाले दार्शनिकों में गैनिलों, काण्ट, जी0ई0मूर, रसेल आदि प्रमुख रुप से उल्लेखनीय हैं।

8.17 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व के लिए सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या कीजिए।
2. क्या ईश्वर की अनिवार्य सत्ता आत्मविरोधी प्रत्यय है? विवेचना कीजिए।

8.18 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकूब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–09 – ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध के लिए विश्वमूलक युक्ति/ सृष्टिमूलक युक्ति

इकाई की रूपरेखा–

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध के लिए विश्वमूलक युक्ति

9.3 ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू का विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

9.4 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में एक्वानस का तर्क

9.5 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में ह्यूम का तर्क

9.6 विश्मूलक प्रमाण के विपक्ष में काण्ट का तर्क

9.7 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में जी0एच0 जायस का तर्क

9.8 विश्वमूलक प्रमाण का डेविड ह्यूम द्वारा खण्डन

9.9 बर्टेण्ड रसेल द्वारा विश्वमूलक युक्ति का खण्डन

9.10 विश्वमूलक युक्ति का इमान्युल काण्ट द्वारा खण्डन

9.11 निष्कर्ष

9.12 सारांश

9.13 प्रश्न बोध

9.14 उपयोगी पुस्तक

9.0 उद्देश्य

ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न धर्मपरायण व्यक्तियों ने विभिन्न तर्को का सहारा लिया है। धर्म परायण व्यक्तियों के द्वारा ईश्वर के अनेक रुपों में वर्णन किया है। इसका परिणाम यह है कि ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है; उसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका है प्रायः सभी धर्म परायण व्यक्तियों ने ईश्वर को विश्व का स्रष्टा माना है। सृष्टि के आधार पर इसके स्रष्टा के रुप में परिकल्पना हमें विश्वमूलक प्रमाण की ओर ले जाती है। जहाँ प्रत्ययमूलक प्रमाण को ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रागनुभाविक तर्क के रुप में माना जाता है; वहीं विश्वमूलक प्रमाण को ईश्वर की सिद्धि के लिए आनुभाविक प्रमाण के रुप में जाना जाता है। जहाँ ईश्वर की सिद्धि के लिए दिए गए सत्तामूलक प्रमाण प्रत्यय (विचार) को प्रमुखता दी जाती हैं, वहीं विश्वमूलक प्रमाण में यथार्थता को प्रमुखता दी जाती है। विश्वमूलक प्रमाण का प्रारम्भिक बिन्दु विश्व की वास्तविकत वस्तुएँ है। विश्वमूलक प्रमाण में विश्व को कार्य मान लिया जाता है और इसके निमित्त कारण (स्रष्टा) के रुप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। विश्वमूलक प्रमाण के समर्थक दार्शनिकों का यह कहना है कि विश्व की यथार्थ वस्तुओं के आधार पर ईश्वर का अनिवार्य सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक विश्वमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का विषय रहा है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक प्रमाण का उद्देश्य तर्क के द्वारा ईश्वर में आस्था उत्पन्न करना रहा है। यह तर्क दार्शनिकों एवं वैज्ञानिको ंके लिए समान रुप से महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत जगत् वास्तविक वस्तुओं के कारण के रुप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। प्रायः इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक ईश्वर को विश्व के आदि कारण, निमित्त कारण, निमित्त एवं उपादान दोनों कारण, अनिवार्य कारण इत्यादि रुप में वर्णित किया है।

9.1 प्रस्तावना

ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए विश्वमूलक प्रमाण को आनुभाविक प्रमाण कहा गया है; क्योंकि यहाँ हमारा प्रस्थान विश्व की आकस्मिक वस्तुएँ हैं और वस्तु विशेष अनुभव हो सकता है। चूँकि इस प्रमाण का प्रारम्भिक बिन्दु अनुभव और वास्तविक वस्तुएं हैं। इसलिए कहा जाता है कि एकेश्वरवादी प्रत्यय और वास्तविकता को प्राथमिकता देता है, प्रत्यय को नहीं। प्रायः सभी एकेश्वरवादी दार्शनिक एवं धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर में प्रत्यय और सत्ता को अवियोज्य रुप से एक मानते हैं। पाश्चात्य दर्शन में विश्वमूलक प्रमाण बहुत प्राचीन काल से ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिया जाने वाला एक प्रमुख प्रमाण रहा है। यद्यपि विश्वमूलक प्रमाण का बीज रुप प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन में मिलता है; किन्तु इसे व्यवस्थित तर्क के रुप में प्रस्तुत करने का श्रेय ग्रीक मध्यकालीन दार्शनिक सन्त टॉमस एक्वानस (1224–1274) को जाता है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए विश्वमूलक प्रमाण की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है। कुछ धर्मपरायण व्यक्ति एवं दार्शनिक विश्वमूलक प्रमाण को कारण कार्य सिद्धान्त पर आधारित मानते हैं, तो कुछ इस प्रमाण को विश्व की आपपिकता पर आधारित करते हैं। वास्तविकता यह है कि विश्वमूलक प्रमाण विश्व की आकस्मिकता पर निर्भर करता है या कारण–कार्य सिद्धान्त पर निर्भर करता है; इसे लेकर दार्शनिकों में बहुत ही मतभेद रहा है।

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक प्रमाण जहाँ एक ओर विश्व को कार्य और ईश्वर को इसका सृष्टिकर्ता माना गया है; वहीं दूसरी और जगत् की आपातिक वस्तुओं की सत्ता के लिए किसी अनिवार्य सत्ता का होना आवश्यक माना गया है। इसलिए विश्वमूलक प्रमाण के अन्तर्गत कारण–कार्य युक्ति और आपातिक वस्तुओं की सत्ता के लिए ईश्वर के रुप में एक अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक माना गया है। विश्व की जितनी ससीम वस्तुएँ हैं; वे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर हैं। अतएव एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता अनुभव की जाती है। जिसे स्वनिर्भर, स्वाश्रित और स्वंयभू माना जाए और जो अन्य सभी आपातिक वस्तुओं का अनिवार्य आधार हो।

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिया गया कार्य–कारण सिद्धान्त निम्नलिखित तर्को पर आधारित है–

1. कोई भी घटना बिना कारण के संभव नहीं हो सकती है। अतः प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होगा।
2. घटनाओं की श्रृंखला निरन्तर चलती रहती है। 'क' का कारण 'ख', 'ख' का कारण 'ग', 'ग' का कारण 'घ' इत्यादि अनुक्रम लगातार चलता रहता है।
3. घटनाओं के इस अनुक्रम का कोई अन्त नहीं दिखायी पड़ता है। यदि ऐसा है; तो अनिश्चित श्रेणियों तक पहुँचना भी संभव नही मालूम पड़ता है। अतः अनवस्था दोष से बचने के लिए इस अनुक्रम का; जिसे हम विश्व कहते हैं कोई न कोई आदि कारण मानना पड़ता है।
4. विश्व में जितनी भी वस्तुएँ है; उनके अनुक्रम की व्यवस्था को विश्व की संज्ञा दी जाती है। इस विश्व के आदि कारण को आद्य प्रवर्तक कहा जा सकता है; जिसके द्वारा अन्य सभी घटनाएं घटित होती है और जो सभी घटनाओं का कारण होता है; पर जो स्वयं किसी अन्य कारण से नियमित नहीं होता है। इसी आद्य प्रर्वतक को ग्रीक दार्शनिक प्लेटों ने अपने दर्शन में 'शुभ–प्रत्यय की संज्ञा से अभिहित किया है और अरस्तु ने विश्व में पायी जाने वाली सभी गतिशील वस्तुओं के गति का आद्य प्रवर्तक के रुप में ईश्वर को वर्णित किया है।
5. इस प्रकार कारण–कार्य सिद्धान्त में यह स्पष्ट करने का प्रयासस किया गया है कि ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का कारण है; किन्तु ईश्वर का कोई कारण नहीं है। ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का आदि कारण है; जिसका विश्व के कारण–कार्य श्रृंखला में सर्वोच्च स्थान है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि विश्व की सभी वस्तुएं ससीम और सान्त है और ईश्वर ही एक ऐसी असीम एवं अनन्त सत्ता है; जिससे और अधिक व्यापक सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतएव विश्वमूलक प्रमाण को ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए प्रस्तुत करने वाले धर्म परायण व्यक्ति एवं दार्शनिकों का यह कहना है कि इस प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

9.2 ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध के लिए विश्वमूलक युक्ति

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धी के लिए दिये गये इस प्रमाण को विश्मूलक प्रमाण इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि अंग्रेजी शब्द 'Cosmos' का अर्थ ही विश्व या संसार है। यह एक अनुभवमूलक युक्ति (Aposteriori Argument) है। प्रायः किसी वस्तु के अस्तित्व

या संसार से तात्पर्य यह होता है कि वह हमारे अनुभव या तर्कबुद्धि का विषय है या हो सकती है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दी गयी यह युक्ति किसी न किसी रुप में मनुष्य के स्वयं के अनुभव पर आधारित है। यह विश्वमूलक युक्तिही 'सृष्टिमूलक' युक्ति का प्रयोग किया। अरस्तु ने प्लेटों से प्रेरणा लेकर गति के आधार पर ईश्वर को अप्रवर्तित प्रर्वतक (Unmoved Mover) सिद्ध किया। वास्तविकता यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दी गयी सृष्टिमूलक युक्ति के नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इस युक्ति का सम्बन्ध 'सृष्टि' या 'जगत' से है। इस युक्ति में 'जगत' या 'सृष्टि' के अस्त्तिव के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। प्राचीनकाल से ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह तर्क दिया जाता रहा है कि 'ईश्वर सृष्टि का आदिकरण है' और उसका अस्तित्व कार्य–कारण नियम से सिद्ध होता है।' पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो अरस्तु, एक्वानस, देकार्त, लाइबनीत्ज एवं भारतीय दर्शन में नैयायिकों तथा अद्वैत वेदान्त के समर्थकों ने ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सृष्टिमूलक प्रमाण को प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः सृष्टिमूलक प्रमाण का सम्बन्ध विश्व में विद्यमान 'गति' 'आकस्मिकता' या 'कारणता' से है।

9.3 ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू का विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

सर्वप्रथम ग्रीक के महान दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर को एक ऐसी अप्रवर्तित प्रर्वतक कहा है, जो विश्व की सभी वस्तुओं को गति प्रदान करता है। अरस्तु का अनुकरण करते हुए मध्यकालीन दार्शनिक सन्त एक्वीनास ने भी विश्व में विद्यमान गति का कारण ईश्वर को माना है। एक्वीनास का मानना है कि विश्व में सर्वत्र गति, परिवर्तन एवं परिणाम है। गति स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि गति का कोई न कोई कारण होता है। पुनः उस गति का भी कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा और अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। इसलिए अनन्त श्रृखंला के परिणामस्वरुप उत्पन्न होने वाले इस दोष से बचने के लिए एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जो समस्त गतिमान वस्तुओं का आदिकरण है। अर्थात्– सर्वप्रथम गति प्रदान करने वाली वही सत्ता है।

परन्तु ईश्वर के अस्तित्व के लिए गतिमूलक तर्क के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी गयी है। इस युक्ति में एक गतिहीन ईश्वर सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान गति का आदिकारण मान लिया गया है; जबकि यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि केवल वही सत्ता या वस्तु गति उत्पन्न कर

सकती है, जो स्वंय गतिशील हो। अतएव यहाँ प्रश्न उठता है कि ईश्वर को गतिरहित सत्ता क्यों माना गया है? इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाए कि विश्व में विद्यमान गति का एक मूलकारण या आदिकारण है; तो इससे सिद्ध नहीं होता है कि वह सत्ता ईश्वर ही है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है।

9.4 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में एक्वानस का तर्क

विश्वमूलक युक्ति या सृष्टिमूलक प्रमाण का ही एक भाग आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण है। सन्त थामस एक्विनास ने विश्व में विद्यमान वस्तुओं की आपतिकता के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर की सत्ता आपातिक न होकर अनिवार्य है। विश्व की आकस्मिक या आपातिक वस्तुओं के श्रृखंला पर विचार करते हुए एक्वीनास यह तर्क देते हैं कि– ''या तो आकस्मिक वस्तुओं की श्रृंखला अनन्त है अथवा इसके मूल में कोई ऐसी सत्ता है; जो विश्व की सभी वस्तुओं का मूल या आदिकारण है। इसलिए आकस्मिक एवं क्षणिक विश्व की समुचित व्याख्या के लिए स्वनिर्भर, स्वाश्रित एवं स्वंयभू जैसी अनिवार्य सत्ता को स्वीकारना आवश्यक है।'' एक्वीनास की मान्यता है कि ''क्षणभंगुर वास्तविकता किसी अनिवार्य सत्ता का आह्वाहन करती है।''

9.5 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में ह्यूम का तर्क

एक्वीनास के आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति का खण्डन करते हुए ह्यूम कहते है कि– ''यह मान्यता प्रागनुभाविक है।''

9.6 विश्मूलक प्रमाण के विपक्ष में काण्ट का तर्क

ह्यूम की ही भॉति काण्ट का भी मानना है कि ''चाहे एक्वीनास कुछ भी कहे, उनका मत यथार्थ में सत्तामूलक प्रमाण का छद्मरुप है। यहाँ केवल प्रमाण में एक के स्थान पर दो प्रमाण हैं–

1. विश्व की सभी घटनाएँ आपातिक हैं और आपातिक बिना किसी अनिवार्य सत्ता के संभव नहीं है। तथा
2. अनिवार्य सत्ता है, जिसका स्वरुप ही है कि वह वास्तविक रहे।

अतएव काण्ट भी आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति को प्रागनुभाविक मानते हैं।

आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति के समर्थक विश्व की आपातिक वस्तुओं की व्याख्या के लिए ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करने की बात करते हैं। परन्तु यह प्रश्न ही निरर्थक है कि विश्व की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है?

आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण के समर्थक दार्शनिक ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए एक ओर तो विश्व की घटनाओं को अनन्त श्रृंखला मान रहे हैं; तो दुसरी ओर इसके अन्त होने की बात कर रहे हैं। भला अनन्त का अंत कैसे होगा? इसलिए अनन्त काल के प्रवाह में अन्त होने की बात आत्मविरोधी लगती है। अनन्त प्रवाह से यह सिद्ध होता है कि– ''विश्व आत्मसंचालित, आत्मनियमित एवं आत्म नियंत्रित सत्ता है और इसकके लिए किसी विश्वेत्तर सत्ता की आवश्यकता नहीं है।''

विश्वमूलक या सृष्टिमूलक प्रमाण का बहुप्रचलित रुप कारणता की धारणा पर आधारित है। यही कारण है कि सृष्टिमूलक प्रमाण को कारणमूलक प्रमाण भी कहा जाता है। भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के आचार्य उदयन ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए 'न्याय कुसुमांजलि' करणमूलक तर्क को दिया है। पाश्चात्य दर्शन के अनेक दार्शनिकों ने कारणमूलक युक्ति के द्वारा ईश्वर सत्ता को सिद्ध करने क प्रयास है। कारणमूलक युक्ति की सहायता से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने वाले दार्शनिकों का यह मानना है कि ''प्राकृतिक जगत ऐसा कार्य है; जिसका कारण ईश्वर को ही माना जा सकता है।''

9.7 विश्मूलक प्रमाण के पक्ष में जी0एच0 जायस का तर्क

जी0एच0 जॉयस ने 'Principles of Natural Technology' में कहा है कि– ''प्रथम या मूलकारण के अभाव में किसी भी गौण कारण की सत्ता संभव नहीं है। चूँकि गौण कारणों का अस्तित्व है; इसलिए हमें यह मानना होगा, इन कारण–कार्य के मूल में एक प्रथम कारण अवश्य है जो सभी कारणों का कारण है।'' अतएव प्राकृतिक जगत की सत्ता की व्याख्या के लिए एक मूल सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जिसे ईश्वर की सत्ता के रुप में जाना जाता है; किन्तु ऐसा स्वीकार करना तभी आवश्यक है; जब यह मान लिया जाए कि संसार के अस्तित्व का कोई अनिवार्य कारण है।

कारणमूलक प्रमाण के विरुद्ध प्रमुख आपत्ति यह उठायी जाती है कि इस युक्ति के समर्थक इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाते हैं यदि सभी वस्तुओं का कोई न कोई कारण है; तो

ईश्वर का कारण क्या है? वह अकारण क्यों है? कारणमूलक युक्ति के समर्थक दार्शनिक ईश्वर को स्वंयभू तथा अपना कारण स्वंय ही बताते हैं। परन्तु कारणमूलक तर्क के समर्थक दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि यदि ईश्वर अकारण हो सकता है; तो यह विश्व अकारण क्यों नही हो सकता? यदि किसी वस्तु को अकारण मानना आवश्यक है, तो विश्व को ही अकारण क्यों न मान लिया जाए और यह मान लिया जाए कि यह विश्व स्वचालित, आत्मनियमित एवं आत्मनियंत्रित सत्ता है, क्योंकि विश्व का अनुभव हमें होता है, जबकि ईश्वर अनुभवातीत सत्ता है।

9.8 विश्वमूलक प्रमाण का डेविड ह्यूम द्वारा खण्डन

पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने कारणमूलक युक्ति में तीन प्रमुख दोष दिखलाए हैं–

1. यदि विश्व के सभी कार्यो का आदिकारण या मूलकारण मानना ही है; तो ईश्वर के बजाय प्रकृति को ही आदि या मूलकारण क्यों न माना जाए? यदि अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर को आदि कारण के रुप में स्वीकार किया जाता है; तो प्रकृति को भी आदिकारण स्वीकार करके अनवस्था दोष से बचा जा सकता है।
2. किसी विशिष्ट कार्य का कोई विशिष्ट कारण होता है। संसार के सभी कार्यो के योगको 'विश्व' कहा जाता है; जबकि विश्व केवल संसार के सभी कार्यो का समुदाय मात्र नहीं है। इसलिए विश्व के कारण की कल्पना करना अनावश्यक एवं निराधार है। ह्यूम के अनुसार कारण–कार्य श्रृंखला अनन्त है। इस कारण–कार्य की अनन्त श्रृंखला के मूल में किसी सामूहिक कार्य का कारण मानना व्यर्थ है।
3. ह्यूम का कथन है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि जगत का कोई मूल कारण है; तब भी यह सिद्ध नहीं होता है कि वह मूलकारण ईश्वर है। यह मूलकारण ईश्वर है। यह मूलकारण ईश्वर न होकर कोई आसुरी शक्ति या जड़ शक्ति हो सकती है।

कारणमूलक युक्ति में उपर्युक्त दोषों को दिखाने के पश्चात् ह्यूम कहते हैं कि हमारा विचार सीमित से असीमित की ओर बढ़ता है, क्योंकि बुद्धि, अनिश्चतता या अनवस्था पर नहीं रुक सकती। अतएव उसमें पूर्ण एवं निरपेक्ष का विचार उत्पन्न होता है, किन्तु इस प्रकार की बौद्धिक कल्पना करने के लिए कोई तार्किक आधार नही है और एक प्रकार की

बौद्धिक छलांग है तथा आतार्किक एवं निराधार है। जिस सीमित विश्व के आधार पर ईश्वर का अनुमान किया जाता है, वह असीमित नहीं हो सकता है; क्योंकि कारण में भी उतने ही गुण माने जाते है; जितने कार्य में होते हैं।

9.9 बर्टेण्ड रसेल द्वारा विश्वमूलक युक्ति का खण्डन

कारणमूलक तर्क के सम्बन्ध में बर्टेण्ड रसेल ने यह सवाल उठाया है कि हम क्यों यह मान लें कि ईश्वर की अस्तित्व है। वस्तुतः ईश्वर को विश्व का आदिकारण वे दार्शनिक मानते हैं जो जगत् की बौद्धिक व्याख्या को संभव मानते हैं। हम यह क्यों मान लें कि जगत की बौद्धिक व्याख्या संभव है।

कुछ दार्शनिकों का यह भी कहना है कि कारणमूलक परिभाषा से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। यदि बर्फेन हर्ड के अनुसार यह मान लिया जाए कि कारणता दो वस्तुओं का साह्चर्य है; तो इससे भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही होती है, क्योंकि हम उन्हीं घटनाओं का कारण के रुप में व्याख्या कर सकते है; जिनका हम अनुभव करते हैं, इसलिए कारणता का प्रयोग घटनाओं पर किया जा सकता है, ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए नहीं।

9.10 विश्वमूलक युक्ति का इमान्युल काण्ट द्वारा खण्डन

जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये कारणमूलक युक्ति की आलोचना करते हुए कहते हैं कि –''यदि कारणता के सम्प्रत्तय वैध हैं, तो इससे ईश्वर के सत्ताा की सिद्धि होती है; किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि ईश्वर एक अतीन्द्रिय सत्ता है, जिस पर कारणता नामक विकल्प आरोपित नहीं किया जा सकता है। कारण मानने पर ईश्वर को व्यावहारिक जगत की वस्तु मानना पड़ेंगा, जो उचित नहीं है। दूसरे ईश्वर एक पूर्ण सत्ता है और पूर्ण सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती है। ऐसी स्थिति में कारण–कार्य का भाव ही कैसे उत्पन्न हो सकता है।'' अतएव काण्ट यह दिखाते हैं कि विश्वमूलक या कारणमूलक युक्ति हमें एक उभयतः पाश की ओर अग्रसर करती है–

1. यदि ईश्वर कार्य–कारण श्रृंखला की एक कड़ी है, तो वह कभी पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता ।
2. यदि ईश्वर पारमार्थिक नहीं है, तो वह जगत का आदि कारण नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त उभयतः पाश के आधार पर काण्ट यह निष्कर्ष निकालते हैं कि– ''अनुभवातीत सत्ता के ऊपर बुद्धि विकल्पों के प्रयोग के लिए कोई मापदण्ड नहीं है; किन्तु सृष्टिमूलक प्रमाण में हमें अनुभव जगत से परे जाने में समर्थ बनाने के लिए इसका प्रयोग किया गया है। 'आवश्यक' एवं 'अनिवार्य' पदों का प्रयोग केवल तर्कवाक्यों में होना चाहिएं''

अब तक ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कारमूलक युक्ति का समीक्षात्मक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि कारण–कार्य नियम से केवल यही प्रमाणित हो रहा है कि कारण–कार्य नियम से केवल यही प्रमाणित हो रहा है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये गये कारणमूलक युक्ति में पहले तो विश्व की व्याख्या के लिए कारण–कार्य श्रृंखला का त्याग कर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि जो अनवस्था दोष विश्व के बारे में हो सकता है, वही दोष ईश्वर के बारे में भी हो सकता है। वही दोष ईश्वर के बारे में भी हो सकता है। जो कारण–कार्य सम्बन्धी प्रश्न विश्व के विषय में उठाये जा सकते है; वही ईश्वर के सम्बन्ध में उठाये जा सकते है। अतएव विश्वमूलक प्रमाण भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता है।

9.11 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विश्वमूलक युक्ति के जितने भी रुप हैं, किसी न किसी प्रकार की विसंगति से परिपूर्ण है। सबकी अपनी सीमाएँ हैं। परिणामस्वरुप वे अविश्वसनीय, दोषपूर्ण होने के कारण अस्वीकार्य है। जॉन हास्पर्स ने विश्वमूलक युक्ति पर अपनी पुस्तक 'An Introduction to Philosphical Analysis' में पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि– ''यदि कारणमूलक युक्ति के द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है, तो वह ईश्वर की इस विशेषता के अतिरिक्त कि वह विश्व का कारण है और किन्हीं अन्य विशेषताओं की स्थापना नहीं कर पाता।'' विश्वमूलक युक्ति के विषय में प्रो0 केयर्ड तो यहाँ तक कहते हैं कि– ''यह युक्ति ससीम आत्माओं का खण्डन कर ईश्वर और जगत के बीच खाई उपस्थित करता है; जो धार्मिक भावना के विकास में बाधक है।''

9.12 सारांश

प्राचीन काल से ही विश्वमूलक प्रमाण धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों के लिए सर्वाधिक लोकप्रिय प्रमाण रहा है। विश्वमूलक प्रमाण में विश्व को एक कार्य मानकर उसके कारण के रुप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। विश्वमूलक प्रमाण का प्रयोग ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तीन प्रकार की युक्तियों की सहायता ली गयी है जो इस प्रकार है–

1. **गतिमूलक तर्क (Argument from motion)**

विश्वमूलक प्रमाण के इस तर्क में यह दिखाया गया है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु गतिशील है। कोई भी वस्तु स्वतः गतिशील नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तु में गति का कारण कोई दूसरी सत्ता है; दूसरी सत्ता का कारण कोई तीसरी सत्ता और तीसरी सत्ता का कारण कोई चौथी सत्ता है। इस प्रकार गतियों की अनन्त परम्परा हैं; जिसके कारण अन्ततः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा और इसी अनवस्था दोष से बचने के लिए सम्पूर्ण गतियों के आदि कारण के रुप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य माना जाता है।

2. आकस्मिकतामूलक या आपातिकतामूलक तर्क (Argument from contigency)

विश्वमूलक प्रमाण के आकस्मिकतामूलक तर्क में यह दिखाया गया है कि जगत् की जितनी भी वस्तुएं हैं वे आकस्मिक हैं। विश्व की किसी भी वस्तु का होना या न होना अनिवार्य नहीं है। विश्व की सभी वस्तुएं अपनी आकस्मिक सत्ता रखने के कारण किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर है। इसलिए विश्व की आपातिक वस्तुओं का मूल कारण कोई आपातिक सत्ता नहीं हो सकती है। अतएव एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है; जो समस्त आकस्मिकताओं आधार होते हुए भी स्वंय अनिवार्य है और वह सत्ता ईश्वर है।

3. कारणमूलक तर्क (Causal Argument)

इस सिद्धान्त में यह दिखाया गया है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह विश्व अनन्त एवं जटिल है। अतएव इस विश्व का मूल कारण भी कोई ऐसी ही सत्ता हो सकती है; जो अनन्त, असीम और स्वंयभू हो। ईश्वर ही ऐसी सत्ता है जो स्वयंभू और आत्मनिर्भर है और विश्वरुपी कार्य का मूल कारण है। विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क देने वाले दार्शनिकों में प्लेटों, अरस्तु, एक्वास,

लाइबनित्ज, जी0एच0 जॉयस आदि प्रमुख रुप से उल्लेखनीय हैं। दार्शनिकों में डेविड ह्यूम, काण्ट, बर्टेण्ड रसेल आदि दार्शनिकों का प्रमुख स्थान है।

9.13 प्रश्न बोध

1. कारण–कार्य पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. आपातिकता पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. विश्वमूलक प्रमाण के विरुद्ध विभिन्न दार्शनिकों के दिये गये तर्को की समीक्षा कीजिए।

9.14 उपयोगी पुस्तक

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकूब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–10 – ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धि के लिए उद्देश्यमूलक प्रमाण

इकाई की रूपरेखा–

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्ध के लिए प्रयोजनमूलक प्रमाण

10.3 **Tecnological** शब्द का शाब्दिक अर्थ

10.4 प्रमुख भारतीय दार्शनिक एवं सन्त एक्वानस का उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

10.5 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में विलियम पेले का तर्क

10.6 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में जेम्स मार्टिनों का तर्क

10.7 मिल एवं चार्ल्स डार्विन द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

10.8 डेविड ह्यूम एवं इमान्युल काण्ट द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

10.9 केअर्ड के द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

10.10 पिंगल पेटिसन एवं बोसांके के द्वारा पेले और मार्टिनो के तर्क का समर्थन

10.11 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में एफ0आर0 टेनेन्ट का तर्क

10.12 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में रिचर्ड टेलर का तर्क

10.13 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में ए0 आई0 ब्राउन का तर्क

10.14 उद्देश्यमूलक प्रमाण का मिल एवं केअर्ड द्वारा खण्डन

10.15 उद्देश्यमूलक प्रमाण पर डेविड ह्यूम की टिप्पणी

10.16 निष्कर्ष

10.17 सारांश

10.18 प्रश्न बोध

10.19 उपयोगी पुस्तक

10.0 उद्देश्य

धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्म दार्शनिकों के लिए ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना एक प्रमुख समस्या रही है। सभी धर्म परायण व्यक्तियों एवं धर्म दार्शनिकों ने यह पाया कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सत्तामूलक प्रमाण और विश्वमूलक प्रमाण असफल रहे हैं। जितने भी तर्क सत्तामूलक प्रमाण द्वारा दिया गया है; उसके पक्ष में उतने ही तर्क दिये गये है। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्म दार्शनिकों के द्वारा ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए उद्देश्यमूलक प्रमाण में विश्व में विद्यमान व्यवस्था के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत इकाई में इसी बात का आकलन करने का प्रयास किया गया है कि क्या विश्व में पायी जानी वाली व्यवस्था बिना किसी अपरिमित बुद्धि वाले के बिना संभव है। विश्व जितना सुव्यवस्थित है और जो सुसंगतता एवं सामंज्जस्य है; वह किसी अपरिमित बुद्धि वाले रचयिता के बिना संभव नही हो सकती है। इस इकाई का उद्देश्य विश्व में विद्यमान सामंज्जस्य और सुव्यवस्था के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है।

10.1 प्रस्तावना

धर्म के इतिहास के दृष्टिकोण से उद्देश्यमूलक प्रमाण को प्राचीनतम सबसे अधिक लोकप्रिय और सर्वमान्य प्रमाण कहा जा सकता है। प्लेटो ने यह कहा है कि नक्षत्र, ग्रह और तारे इस प्रकार गति करते रहते है; मानों इन्हें किसी बुद्धि ने इस प्रकार उन्हें

संचालित किया है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के पश्चात् अनेक दार्शनिकों प्रकृति में विद्यमान व्यवस्था ईश्वर के द्वारा संभव माना है। सन्त पॉल का यह स्पष्ट रुप से कहना है कि ईश्वर की नित्यता और उसका आदृश्य रुप प्रकृति की रचना में प्रकट होता है। हेनरी मोर (सन् 1614–1687) विलियम पेली (सन् 1743 से 1805), जेम्स मार्टिनों (सन् 1805 से 1900) और आधुनिक युग के प्रमुख दार्शनिक एफ0आर0 टेनैन्ट (सन् 1866–1957) ने ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए उद्देश्यमूलक प्रमाण को एक सम्यक् दार्शनिक युक्ति के रुप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ऐसे अनेक दार्शनिक हैं; जिन्होंने उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन करके इसकी लोकप्रियता को किसी न किसी रुप में प्रभावित किया है। ह्यूम, मिल, काण्ट इत्यादि ऐसे दार्शनिक है, जिन्होंने उद्देश्यमूलक प्रमाण का सशक्त खण्डन किया है।

10.2 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्ध के लिए प्रयोजनमूलक प्रमाण

प्रयोजनमूलक तर्क को रचनामूलक तर्क भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें सृष्टि की रचना के आधार पर बुद्धि दैवी सृष्टिकर्ता का अनुमान करती है। यह प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है क्योंकि केवल दार्शनिकों ने ही नहीं; बल्कि वैज्ञानिकों ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। ह्यूम तथा काण्ट जैसे दार्शनिकों का स्पष्ट मानना है कि – ''अन्य तर्को की अपेक्षा यह तर्क आदर के साथ उल्लेखनीय है। चूँकि यह विश्व में निहित प्रयोजन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, इसलिए यह प्राचीनता स्पष्टता एवं विवकेशीलता आदि विशेषताओं से युक्त है।''

10.3 Tecnological शब्द का शाब्दिक अर्थ

जहाँ तक Tecnological शब्द के शाब्दिक अर्थ का सवाल है तो यह Tecnological शब्द ग्रीक भाषा के Telos से बना है। जिसका अर्थ प्रयोजन है। कुंछ दार्शनिकों का यह मानना है कि यह तर्क सृष्टिमूलक प्रमाण का ही विकसित रुप या विस्तार का प्रतीक है। इसमें भी विश्व के स्वरुप से उसके निर्माता का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु यह मत उचित नहीं है; क्योंकि सृष्टिमूलक तर्क में जहाँ सृष्टि के प्रथम कारण अथवा स्रोत का अनुमान किया जाता है; वहाँ प्रयोजनमूलक तर्क में सृष्टि प्राप्त होता

है। कारणमूलक तर्क बाह्य–कारण के विचार का द्योतक है; जबकि प्रयोजनमूलक तर्क में प्रयोजन या उद्देश्य का प्रत्यय निहित है, तो दो प्रश्न उठते हैं। विश्व में परिवर्तन 'कैस' एवं 'क्यों' संभव है? प्रथम प्रश्न पर विचार सृष्टिमूलक प्रमाण में किया जाता है, किन्तु जब यह विचार किया जाता है कि यह परिवर्तन क्यों होता है तो इसका उत्तर प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा प्राप्त होता है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

10.4 प्रमुख भारतीय दार्शनिक एवं सन्त एक्वानस का उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

भारतीय दर्शन में न्याय–वैशेषिक, योग्य एवं अद्वैत वेदान्त में इस प्रमाण का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो तदुपरान्त मध्यकालीन दार्शनिक एक्वीनस ने इस तर्क का प्रयोग किया। प्रयोजनमूलक तर्क के नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा विश्व में विद्यमान व्यवस्था, अभियोजन तथा प्रयोजन के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रमाण के समर्थक दार्शनिको का यह मानना है कि– ''विश्व आकस्मिक या अन्धाधुन्ध घटना नहीं है; क्योंकि इसके अन्दर इतनी योजना और सम्बद्धता है कि सभी स्थलों पर अभियोजना एवं अभिकल्प दिखलायी पड़ता है। इसलिए यह विश्व बुद्धिमान यंत्रकार का अभिकल्प है। चूँकि इस विश्वरुपी यंत्र में इतनी जटिलता, इतनी गहनता एवं इतनी सूक्षमता दिखलायी पड़ती है कि इस विश्व को बनाने वाला अपरिमित बुद्धि वाला ही हो सकता है। अतः इस विश्व का रचयिता अपिरमित, निरपेक्ष सत्ता है, जिसे ईश्वर की संज्ञा दी जा सकती है।''

10.5 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में विलियम पेले का तर्क

प्रयोजनमूलक तर्क का ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक स्पष्ट रुप में प्रयोग पाश्चात्य दार्शनिक विलियम पेले ने अपनी पुस्तक 'नेचुरल थियोलॉजी' में किया। उनका कहना है कि – ''समस्त विश्व एक जटिल यंत्र है; जिसकी सूक्ष्म यांत्रिकता इसके अंग–प्रत्यंग में अभिलक्षित होती है। क्या इस प्रकार का जटिल एवं विशाल यंत्र अपने आप से उत्पन्न हो सकता है और फिर यह अपने आप इतना सुचारु रुप से संचालित रह सकता है और फिर यह अपने मत की पुष्टि के लिए तर्क देते हुए कहते हैं कि– मान लिजिए यदि किसी को कोई घड़ी निर्जन रेगिस्तान में पड़ी हुई मिलती है; तो क्या कोई यह कल्पना कर सकता है कि यह घड़ी अपने आप बालुका से वायु के प्रचण्ड थपेड़े से

उत्पन्न हुई है। क्या इसके काँटे, स्प्रिंग, कुंजी इत्यादि अपने आप उत्पन्न हो सकती है और अपने आप आपस में इस प्रकार सम्बद्ध हो सकती है कि वह नियमित रुप में चलकर सही–सही समय बतावें। यदि एक छोटे से यंत्र घड़ी के बारे में यह बात नहीं सोची जा सकती; तो इस विश्व के सम्बन्ध मे जिसके कण–कण में सूक्ष्म एवं गहन जटिलता छिपी हुई है कैसे सोचा जा सकता है कि यह अपने आप उत्पन्न होकर व्यवस्थित रुप में युगों से संचालित है? अपने वर्तमान रुप में ब्रह्माण्ड का अस्तित्व इसके बुद्धिमान रचयिता के अस्तित्व सिद्ध करता है और इसी रचयिता को ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यदि उसी रेगिस्तान में एक चट्टान मिलता है; तो हम उसके विषय में इस प्रकार का अनुमान नहीं लगा सकते; क्योंकि उसके भागों में न कोई व्यवस्था है और न ही उसका कोई प्रयोजन है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति में जो सन्तुलन बना हुआ है और इसमें जो सुसम्बद्धता देखने को मिलती है, इसके आधार पर हमें एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को मानने के लिए विवश होना पड़ता है। विलियम पेले के अनुसार– (1) रेगिस्तान या निर्जन प्रदेश में अचानक घड़ी मिलने पर हम उसके रचनाकार का अनुमान करते हैं। उसी प्रकार विश्व में व्याप्त अद्भुत व्यवस्था एवं प्रयोजन को देखकर हम विश्व के प्रायोजक का अनुमान लगाते हैं। प्रकृति में सर्वत्र ऐसी व्यवस्था देखने को मिलती है, जो विशिष्ट रचनाकार या प्रायोजक का द्योतक है।

(2) यदि घड़ी के कुछ भाग ठीक प्रकार से कार्य नहीं करते; तो इससे उस पर आधारित हमारा घड़ीसाज सम्बन्धी अनुमान अयुक्तिसंगत नहीं सिद्ध होता; क्योंकि घड़ी की उपस्थिति मात्र उसके निर्माता को अनिवार्यतः प्रमाणित करती है। इसी प्रकार यदि जगत का कार्य भी सुव्यवस्थित ढंग से न हो; तो भी मानना है कि इसकी रचना किसी सर्वज्ञ सत्ता द्वारा हुई है; किन्तु इसमें कुछ न्यूवता है।

(3)यदि हम उस घड़ी के कुछ भागों के कार्य को भलीभॉति नहीं समझ पाते तो इससे भी हमारा घड़ी साज विषयक अनुमान गलत प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि इसके लिए घड़ी के सभी भागों के कार्य को ठीक–ठीक समझना अनिवार्यत नहीं है। इसी प्रकार यदि जगत की कुछ वस्तुएँ ऐसी हो जिनकी हमें जानकारी न हो तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इसकी रचना किसी सर्वज्ञ सत्ता द्वारा नही हुई है।

विलियम पेले पुनः यह भी तर्क देते हैं कि यदि हम प्रकृति की वस्तुओं विशेषकर मानव शरीर को देखें तो स्पष्ट होता है कि इसका कोई न कोई स्रष्टा अवश्य रहा है। यदि हम केवल आँखों की संरचना पर विचार करें; तो उसकी जटिलता एवं उद्देश्य से सिद्ध होता है कि इसकी रचना अकस्मात् नहीं हुई है; बल्कि इसकी रचना किसी विशेष उद्देश्य से किसी बुद्धिपूर्ण सत्ता ने की है। यही सत्ता ईश्वर है। जगत में सामंन्जस्य व क्रमबद्धता (Harmony and Order) मिलती है। सामंजस्य एवं क्रमबद्धता वही उत्पन्न कर सकता है; जो बुद्धिपूर्ण हो। बुद्धिरहित प्राकृतिक वस्तुएँ किसी भी प्रकार की व्यवस्था उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। अतः चाहें किसी विशेष वस्तु की रचना की बात हो या जगत् की; दोनों के आधार पर सिद्ध होता है कि किसी बौद्धिक सत्ता ने इसकी रचना की है। यही बौद्धिक सत्ता ईश्वर है।

10.6 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में जेम्स मार्टिनों का तर्क

जेम्स मार्टिनो (James Martineau) ने पेले द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तर्क को और भी अधिक स्पष्ट रुप से प्रस्तुत किया है। इनका यह मानना है कि विश्व स्वतः नहीं उत्पन्न हुआ है। इसका निर्माणकर्ता कोई अवश्य है। विश्व की रचना के पीछे उसका उद्देश्य है। यह उद्देश्य विश्व की व्यवस्था को देखकर ही ज्ञात हो जाता है। मार्टिनों के अनुसार बुद्धि तथा प्रयोजनमूलक व्यवस्थाा के कुछ लक्षण हैं जैसे चयन (), संयोग और क्रमिकता। ये सभी लक्षण विश्व के जीवों के शरीर की रचना तथा अभियोजन में मिलते हैं। उदाहरणार्थ– जीवों के अंगों का चुनाव उनकी परिस्थिति के अनुकूल ही किया गया है। हिंसक जानवरों के तेज पंजे, चिड़ियों के लिए पंखों तथा जल में रहने वाले जीवों के स्वॉस के अंग उनकी परिस्थिति के अनुकूल ही चुने गये हैं। इस चुनाव से असीम बुद्धि की ओर संकेत मिलता है। यही नही जीवों के अंगों में संयोग तथा क्रमिकतापूर्ण व्यवस्था को देखकर ही प्रमाणित किया जाता है कि इस विश्व का रचयिता कोई महान शक्ति है, जिसने इस विश्व को बुद्धिमत्ता से व्यवस्थित किया है। यही सत्ता ईश्वर है।

10.7 मिल एवं चार्ल्स डार्विन द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

परन्तु मिल तथा चार्ल्स डार्विन के विकासवाद और उसके पश्चात् प्राणिशास्त्र मे होने वाले वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने पेले तथा मार्टिनों के प्रयोजनवादी तर्कों का सशक्त रुप में खण्डन

किया है। विकासवादी मान्यता के अनुसार सृष्टि में प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वतः विकास हो रहा है। भौतिक एवं प्राणी जगत में 'योग्यतम की विजय' तथा 'प्राकृतिक चयन' जैसे नियमों के अनुसार सृष्टि का निरन्तर विकास हो रहा है। इसमें किसी चेतन अथवा प्रायोजन शक्ति का कोई स्थान नही है। इस प्रकार विकासवादी मान्यता में ईश्वर की धारणा आवश्यक नहीं है।

10.8 डेविड ह्यूम एवं इमान्युल काण्ट द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

डेविड ह्यूम अपनी रचना 'डायलाग्स कनसर्निंग रिलिजन' में स्पष्ट किया है कि – ''जीवन संग्राम में संरक्षित रहने का यह शर्त है कि जीव अपनी परिस्थति के साथ अभियोजित रहे। यदि प्राणियों के अंग–प्रत्यंग की समायोजनापूर्ण व्यवस्था न होती तो वे युगान्तारों के उथल–पुथल में अनुजीवित रह ही नहीं सकते थे। इसलिए यह विश्व स्वरचित, स्वसंचालित व्यवस्थापूर्ण सत्ता है और इस व्यवस्था की व्याख्या करने के लिए किसी चेतनामय शक्ति की प्राक्कल्पना करना व्यर्थ है।''

डेविड ह्यूम एवं इमान्युल काण्ट ने विलियम पेले एवं मार्टिनों के प्रयोजनमूलक तर्क की कटु आलोचना की है। डेविड ह्यूम ने प्रयोजिनात्मक युक्ति के विरुद्ध निम्न त्रुटियों की ओर संकेत किया है–

(1) इस युक्ति में विश्व को देखकर ईश्वर को विश्व के स्रष्टा के रुप में स्वीकार किया गया है, ह्यूम के अनुसार विश्वरुपी कार्य जिसे देखकर ईश्वर को कारण के रुप में चित्रित किया गया है, ससीम है। ससीम कार्य से ससीम कारण की ही स्थापना हो सकती है। कारण में उन्हीं गुणों को आरोपित किया जा सकता है जो कार्य में निहित है। प्रयोजनात्मक युक्ति में इसके विपरीत विश्व जो एक सीमित कार्य है, के आधार पर ईश्वर अर्थात् असीमित कारण को स्थापित किया गया है। इस प्रकार इस युक्ति में कार्य–कारण नियम का उल्लंघन किया गया है, जिसके फलस्वरुप यह युक्ति दोषपूर्ण है।

(2) प्रयोजनमूलक युक्ति जिस साम्यानुसार पर आधारित है, वह अत्यन्त ही दुर्बल एवं दोषपूर्ण है। सिर्फ वही साम्यानुसार वैध माना जा सकता है, जिसके असंख्य उदाहरण उपलब्ध हों तथा जिसकी पुनरावृत्ति संभव हो। उदाहरणास्वरुप एक मिलकर बनाया होगा। इसका कारण यह है कि इस घटना के अनेकों उदाहरण मिलते है अर्थात् इस घटना की

पुनरावृत्ति संभव है। इस प्रकार भवन को देखकर हम उसके निर्माता शिल्पकार की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु यही बात हम ईश्वर सम्बन्धी साम्यानुसार के बारे में नहीं कह सकते। क्योंकि अनेक प्रयासों के बावजूद बार–बार हम ईश्वर द्वारा विश्व को निर्मित होते नहीं देख सकते। विश्व विषयक सृष्टि एक ऐसी घटना है, जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। अतः भवन शिल्पकार तथा विश्व स्रष्टा में पर्याप्त साम्य नहीं है, जिसके फलस्वरुप विश्व से विश्व स्रष्टा ईश्वर अनुमति किया जा सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रयोजनात्मक तर्क के आधार पर एक ईश्वर की सत्ता को नहीं प्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर की एकात्मकता के विरुद्ध ह्यूम के इस मत को फिलो ने संवाद में इस प्रकार व्यक्त किया है– ''एक मकान या जहाज को अनेकों व्यक्ति मिलकर बनाते हैं; विश्व तो और भी जटिल है। यह क्यों न मान लिया जाए कि विश्व की रचना अनेकों देवताओं ने मिलकर ही की है; जो सीमित सामर्थ्य वाले हैं।''

कुछ दार्शनिकों का कहना है यदि हम यह मान भी लें कि सम्पूर्ण विश्व में कोई प्रयोजन निहित है; तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि इस प्रयोजन के मूल में कोई चेतन शक्ति या ईश्वर का संकल्प निहित है। यदि हम विश्व के प्रयोजनकर्ता को ईश्वर मानते हैं; तो प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर में प्रयोजन या बुद्धि कहाँ से आयीं? जिस प्रकार घड़ीसाज को घड़ी के निर्माण के लिए उपादान सामग्री, प्रयोजन या बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार ईश्वर द्वारा निर्मित विश्व में उपादान, प्रयोजन एवं बुद्धि की आवश्यकता पड़ी होगी। इस प्रकार जो तर्क विश्व के बारे में उठाया जाता है और जिसके अनुसार यह माना जाता है कि विश्व में व्यक्त व्यवस्था एवं प्रयोजन ईश्वर से प्राप्त होते हैं, वही तर्क ईश्वर के बारे में किया जाता है कि ईश्वर में ये तत्व कहाँ आये? परम्परानुसार प्रयोजनमूलक तर्क को सृष्टिमूलक प्रमाण से जोड़ने की चेष्टा की जाती है; किन्तु हम इन तर्कों को कितना ही जोड़ने की चेष्टा करें; इनसे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

इमान्युल काण्ट के अनुसार यदि प्रयोजनमूलक युक्ति वैध है; तो भी केवल इससे ऐसी सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है; जो सृष्टि को एक निश्चित आकार प्रदान करता है, उसकी उत्पत्ति नहीं करता। इस तर्क से एक शिल्पकार की सत्ता सिद्ध होती है, ईश्वर की नहीं। इसलिए जब तक यह सिद्ध नहीं होता है कि यह अनिवार्य सत्ता है और अनिवार्य सत्ता पूर्ण सत्ता है, तब तक ईश्वर का अस्तित्व भी इस युक्ति के द्वारा नहीं सिद्ध

होता है। यह तभी संभव हो सकता है; जब प्रत्ययमूलक एवं सृष्टिमूलक युक्तियाँ वैध हों। वास्तविकता यह है कि हमारा जगत सम्बन्धी अनुभव सीमित है और सीमित अनुभव के निष्कर्ष सम्पूर्ण जगत के परिचायक नहीं हो सकते। काण्ट यह स्वीकार करते हैं कि– ''इस अनुमान के आधार पर विश्व के रचयिता की सत्ता का अवश्य संकेत मिलता है; किन्तु यह रचनाकार धर्म में स्वीकृत सर्वशक्तिमान ईश्वर नही माना जा सकता। यह रचनात्मक उपलब्धि तथा उत्पादन सामग्री आदि के द्वारा सीमित है। इस तर्क से एक शिल्पकार की सत्ता सिद्ध होती है; ईश्वर की नहीं।''

10.9 केअर्ड के द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

केयर्ड के अनुसार ''यह तर्क धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाता है। बाह्य शिल्पकार का विचार पूर्ण ईश्वर के विचार के प्रतिकूल है। अतः यह धार्मिक भावना के अनुकूल ईश्वर की स्थापना करने में असमर्थ सिद्ध होता है। यह ईश्वर के मानवीकरण की प्रवृत्ति का द्योतक है। इसमें ईश्वर में शिल्पकार जैसी विशेषताएं आरोपित की जाती है। अधिक से अधिक यह ऐसा सादृश्यानुमान है; जिसमें ईश्वर की संभावना प्रकट होती है, किन्तु प्रामाणिकता नहीं।''

10.10 पिंगल पेटिसन एवं बोसांके के द्वारा पेले और मार्टिनो के तर्क का समर्थन

परन्तु उपर्युक्त खण्डनों से बचने के लिए हेगल से प्रभावित होकर प्रिंगल पेटिसन तथा बोसांके ने पेले तथा मार्टिनों की तरह विकास को जीवों तक सीमित न रखकर जागतिक रुप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि विश्व के विकास की व्याख्या यांत्रिक नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती; क्योंकि विश्व में प्राप्त जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जैसे; प्रजनन–प्रक्रिया, स्वतः–संचालन की क्रिया, स्वतः स्फूर्ति तथा स्व उद्धार आदि, जो यांत्रिकता के सर्वथा विरुद्ध हैं। यही नहीं मानव में नैतिकता विकास, अनुशासन, सहयोग और इनसे फलित विज्ञान, कला साहित्य, नीति एवं धर्म सिद्ध करते हैं कि मानव जीवन में मूल्यों का अस्तित्व है। विश्व इन्हीं मूल्यों पर आधारित है। बुद्धि से ही इन मानवीय मूल्यों का विकास सिद्ध होता है। यदि हम समाष्टि रुप मे विश्व पर दृष्टिपात करें; तो उसके पीछे मूल्ययुक्त महान बुद्धिमान शक्ति अर्थात् ईश्वर को ही प्राप्त करेंगे।

10.11 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में एफ0आर0 टेनेन्ट का तर्क

एफ0आर0टेनेन्ट (F.R. Tennant) ने अपनी कृति 'Philosphical Theology' में इस तर्क को नवीन रुप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार विशेष वस्तुओं की रचना यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती; फिर भी सम्पूर्ण सृष्टि पर एक साथ विचार करने से ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य हो जाता है। विभिन्न कारणात्मक नियमों और विभिन्न संयोगो (Chances) के क्रियाशील रहने पर भी सृष्टि की एकता सुरक्षित रहती है। सृष्टि जो भी उत्पत्ति करती है; तो वह पहले से अधिक विकसित होती है। यदि कोई अवस्था उपयुक्त नहीं है; तो वह समाप्त हो जाती है। सृष्टि के समन्वित विकास से प्रकृति में सौन्दर्य एवं नैतिक मूल्य संभव होता है। इसको दृष्टि में रखते हुए सृष्टि की व्याख्या करते हुए इस प्राक्कल्पना को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि सृष्टि के मूल में कोई चेतन तत्व निहित है। यही तत्व ईश्वर है।

10.12 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में रिचर्ड टेलर का तर्क

समकालीन दार्शनिकों में 'रिचर्ड टेलर (Richard Teylor) का कहना है कि यदि हम किसी शहर के नजदीक हैं और वहाँ पर पत्थर के टुकड़े इस प्रकार पड़े हैं कि उनसे यह वाक्य बनता है कि ''Welcome to the city'' अर्थात् शहर में आपका स्वागत है। इसे हम दो रुपों में ले सकते हैं–

(1) या तो हम माने कि प्राकृतिक कारणों से पत्थरों को यह आकार मिल गया है; या

(2) फिर यह माने कि किसी न किसी ने जानबूझकर पत्थरों को इस क्रम में रखा है।

प्रथम विकल्प को मानने पर हम इसे सार्थक वाक्य नहीं मानेंगे; लेकिन द्वितीय स्थिति में वाक्य सार्थक हो जाता है। यह नही हो सकता कि हम वाक्य को सार्थक मानें और किसी लेखक के अस्तित्व को स्वीकार न करें। यही बात हमारे अंगों के लिए भी सत्य है। आँखों के द्वारा हम सूचनाएँ प्राप्त करते हैं और उन पर निर्भर रहकर हम अपनी योजनाएँ बनाते हैं। यदि आँखे केवल आकस्मिक रुप से उत्पन्न हुई हैं; तो उन्हें हम किसी सूचना के लिए विश्वसनीय नहीं मान सकते। यदि हम उन्हें विश्वसनीय मानते हैं; तो इसका अर्थ है कि उन्हें किसी प्रयोजन के लिए बनाया गया है और यह प्रयोजन कोई प्राकृतिक वस्तु या व्यक्ति का नहीं है; बल्कि एक अति प्राकृतिक व्यक्ति का है; जिसने आँखों तथा अन्य योनियों की रचना की। यही सत्ता ईश्वर है।

प्रयोजनमूलक युक्ति के विरुद्ध कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जगत की रचना अणुओं से हुई है; किसी व्यक्ति या ईश्वर द्वारा इसकी रचना नहीं हुई है। ऐसा नहीं कि ईश्वर ने पहले प्राणियों को बनाया और बाद में जगत को; बल्कि ओजोन में जितने प्राणी रह सकते थे; उत्पन्न हो गये हैं। प्रायः जो लोग घड़ी से जगत के रचना की तुलना करते है; उन्हें जगत के रचना की तुलना प्रकृति से करना चाहिए। मनुष्य द्वारा रचित वस्तुओं से जगत की तुलना नहीं की जा सकती।

कुछ दार्शनिकों का भी मानना है कि सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि विश्व में अव्यवस्था का आधिपत्य है। इस संसार में सुख के साथ दुःख भी सर्वत्र व्याप्त है। यह निर्विवाद तथ्य है कि अनेक भंयकर प्राकृतिक आपदाओं तथा घातक रोगों के फलस्वरुप इस संसार के समस्त प्राणी व्यापक रुप से तीव्र पीड़ा तथा दुःख का अनुभव करते हैं। यह विश्व व्यवस्था में व्याप्त अनेक अपूर्णताओं का ही प्रतिफल है। यदि इस संसार का रचयिता ईश्वर सचमुच सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यन्त दयालु होता; तो निश्चय ही इसमें इतनी अधिक पीड़ा न होती। इस विश्व में व्याप्त तीव्र पीड़ा एवं दुःख से यही प्रमाणित होता है कि यदि ईश्वर इस जगत का रचयिता है; तो वह निश्चय ही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यन्त दयालु नहीं है और उसने प्राणियों के सुख के लिए जगत की रचना नहीं की है। इस प्रकार जगत की अपूर्णताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि इसका कोई बुद्धिमान रचयिता नहीं है और वह अपूर्ण तथा अपने कार्य में नितान्त अकुशल है।

10.13 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में ए0 आई0 ब्राउन का तर्क

ए0आई0 ब्राउन नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर यह दिखाया है कि हमारी पृथ्वी के ऊपरी पर्यावरण में विद्यमान 'ओजोन' नामक गैस समस्त प्राणियों तथा पेड़–पौधों के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। यह ओजोन गैस इस धरती पर प्राणियों के जीवन के लिए एक ऐसा रक्षा–कवच है; जिसके बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। इसे पृथ्वी पर समस्त प्राणियों के लिए ईश्वर का वरदान मानते हुए ब्राउन कहते हैं कि– ''ओजोन गैस की पतर रचयिता द्वारा पहले से सोच–समझकर किये गये कार्य का महान प्रमाण है। क्या कोई एक ऐसी दीवार जो प्रत्येक प्राणी को मृत्यु से बचाती है–––––– योजना का एक प्रमाण देती है।''

10.14 उद्देश्यमूलक प्रमाण का मिल एवं केअर्ड द्वारा खण्डन

मिल के अनुसार रचनामूलक तर्क से केवल सीमित रचनाकार का अनुमान होता है। इससे धर्म में स्वीकृत ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

केअर्ड ने कहा है कि सृष्टि एक आत्मव्यवस्थित प्रणाली या जैविक संगठन है। जो अपने आन्तरिक नियमों से विकसित हो रही है। यह विचार किसी आनुभाविक–विधि या प्रयोजनवादी अनुमान के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। सीमित दृष्टि से असीमित का अनुमान लगाना संभव नहीं है। जो ईश्वर प्रयोजनमूलक तार्किक अनुमान से सिद्ध होता है; वह एक अपूर्ण ईश्वर है।

10.15 उद्देश्यमूलक प्रमाण पर डेविड ह्यूम की टिप्पणी

डेविड ह्यूम का कहना है कि प्रत्येक विचारक को इतना मसाला मिल जाता है कि वह अपनी कल्पना को अनेक प्रकार की प्राक्कल्पनाओं में दौड़ाये। अनीश्वरवादी कहेगा कि विश्व में कोई विचारपूर्ण व्यवस्था नहीं है। यदि विचारपूर्ण व्यवस्था होती; तो व्यर्थ की बर्बादी, मूल्यों का हनन, रोग,विप्लव आदि अशुभ क्यों होते?

10.16 निष्कर्ष

इस प्रकार जितने उद्देश्यमूलक तर्क दिये गये है; उनकी वैकल्पिक व्यवस्था भी संभव है। यदि तार्किक रुप से दिये गयेय सभी प्रमाण सही नहीं है; तो इससे यह नहीं है। समकालीन दार्शनिक हास्पर्स के अनुसार ''A Proved God is no God'' यह कथन ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उचित माना जा सकता है। यह कथन उसी प्रकार है जैसा भारतीय दर्शन में बौद्धों ने माना था कि जिसका कोई आधार या सीमा न हो; उसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह केवल मानव की कल्पना है।

ग्रीक दार्शनिक जेनोफिनीज ने भी बहुत पहले ही कहा था कि– ''यदि बैलों, घोड़ों एवं शेरों के हाथ मनुष्य के समान होते और उन हाथों से वे चित्र बना सकते; तो वे ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़े एवं शेर के रुप में चित्रित करते।''

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रयोजनमूलक प्रमाण भी पूर्णरुपेण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रहा है; फिर भी सभी मनुष्यों को आकर्षक

लगता है। समस्त विज्ञान हमे सृष्टिकर्त्ता की धारणा की ओर ले जाते हैं। यही कारण है कि प्रयोजनमूलक प्रमाण पर टिप्पणी करते हुए हास्पर्स कहते हैं कि– ''यह तर्क ईश्वर की सत्ता हेतु प्रस्तुत अन्य सभी तर्को की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है।''

10.17 सारांश

प्रयोजनमूलक प्रमाण को उद्देश्यमूलक युक्ति अथवा संरचना का तर्क भी कहते है। प्रयोजनात्मक युक्ति विश्वमूलक प्रमाण का ही विस्तार है। विश्वमूलक प्रमाण और उद्देश्यमूलक प्रमाण दोनों का प्रस्थान बिन्दु विश्व या प्रकृति है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिया गया प्रयोजनमूलक प्रमाण विश्व को एक व्यवस्था या योजना के रुप में देखता है और ईश्वर को इस व्यवस्था का व्यवस्थापक माना है। सभी प्रकार दार्शनिक चाहें वे आस्तिक हो या नास्तिक हो विश्व में निहित अनूठी व्यवस्था, सुविन्यास एवं सामंज्जस्य को देखकर एक ऐसे ईश्वर की रचनाकार के रुप में परिकल्पना करते हैं जो अपरिमित बुद्धिवाला ही हो सकता है। विश्व के कण–कण में व्यवस्था देखकर लोग अनायास ही मंत्रमुग्ध हो जाते हैं और भावतिरेक में अपरिमित बुद्धि वाले शिल्पकार के रुप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। सरलता अनुकूलता और परस्पर अभियोजन के कारण यह प्रमाण अपने आरम्भिक काल से लेकर आज भी आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इस प्रमाण की महत्ता केवल दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु वैज्ञानिको ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। उद्देश्यमूलक प्रमाण यह सिद्ध करता है कि ईश्वर विश्व में पाये जाने वाले सभी प्रकार के सद्गुणों एवं मूल्यों का संरक्षक है। उद्देश्यमूलक प्रमाण यह स्पष्ट करता है कि विश्व में सर्वत्र अनुभूत योजना, सामंज्जस्य और संगठन एक अपरिमित बुद्धि वाले रचयिता की ओर संकेत करता है, जिसे धर्म परायण व्यक्ति ईश्वर कहता है।

4..18 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये उद्देश्यमूलक प्रमाण का विवेचन कीजिए।
2. क्या यह विश्व एक अपरिमित बुद्धि वाले शिल्पकार का अभिकल्प है? विवेचना कीजिए।
3. विश्व में पायी जाने वाली सुव्यवस्थित योजना अपरिमित बुद्धि वाले ईश्वर की सत्ता सिद्ध करती है। व्याख्या कीजिए।

10.19 उपयोगी पुस्तक

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकूब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–11 – ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण

इकाई की रूपरेखा–

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 ईश्वर की सिद्ध के लिए नीतिमूलक प्रमाण

11.3 नीतिमूलक प्रमाण के संस्थापक काण्ट का मत

11.4 भारतीय दर्शन में नीतिमूलक प्रमाण की संकल्पना

11.5 जेम्स मार्टिनों का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.6 काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.7 काण्ट के नीतिमूलक प्रमाण का जेम्स मार्टिनों द्वारा समर्थन

11.8 पाश्चात्य दर्शन के विभिन्न अन्य दार्शनिकों द्वारा नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन

11.9 हेस्टिंग्स रैशडल का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.10 डेविड ऐल्टन ट्रब्लड का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.11 डी0 एम0 बेली का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.12 प्रो0 टेलर का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.13 नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन करने वाले विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोण का निहितार्थ

11.14 नीतिमूलक प्रमाण की समीक्षा

11.15 जे0 एच0 कार्डिनल एवं न्यूमैन का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

11.16 निष्कर्ष

11.17 सारांश

11.18 प्रश्न बोध

11.19 उपयोगी पुस्तक

11.0 उद्देश्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रत्ययमूलक प्रमाण, विश्वमूलक प्रमाण और उद्देश्यमूलक प्रमाण की तार्किक दृष्टि से असफलता के पश्चात् कुछ धर्म परायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने नीतिमूलक प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य इस बात का आकलन करना है कि यदि धर्मपरायण व्यक्ति के लिए ईश्वर ही वह सत्ता है; जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परम शुभ, पूर्ण दया और करुणा का अगार है; तो ऐसे ईश्वर की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण एक महत्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है। प्रायः धर्म का मार्ग नैतिकता से ही होकर गुजरता है। नैतिकता के मार्ग का अनुगमन कर कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति अपने अन्तिम धार्मिक लक्ष्य ईश्वर के साक्षात्कार तक पहुँच सकता है। सभी धर्मो में नैतिकता की पराकाष्ठा परम शुभ ईश्वर में ही होती है। इसलिए नैकिता के बिना न तो कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक प्राणी बन सकता है और न ही वह उस सत्ता तक पहुँच सकता है; जो उसके जीवन का परम साध्य है और जिसे ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

11.1 प्रस्तावना

ईश्वर के प्रति आस्था रखने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने उपास्य ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए नीतिमूलक प्रमाण को प्रमुखता दी है। इस प्रमाण को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए देने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों का यह मानना है कि न तो कोरा अस्तित्वपूर्ण ईश्वर और न ही कोरा सृष्टिकर्ता उपासना का विषय बना सकता है; जो शुद्ध संकल्प और पवित्र शुभेच्छाा से युक्त हो। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले

धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों का यह स्पष्ट रुप से कहना है कि इस विश्व का आधार शुभ और शिव ईश्वर है। इसलिए नीतिमूलक प्रमाण को मूल्यात्मक भी कहा जाता है; किन्तु इसे शायद ही कोई संज्ञानात्मक स्वीकार करे। बहुत पहले अनेक धर्म परायण व्यक्तियों एवं दार्शनिको ने तत्वमीमांसा को संज्ञानात्मक माना था, जिसके कारण ये सभी लोग नीतिमूलक प्रमाण तत्मीमांसा मानकर इसे संज्ञानात्मक आभास रुप में समझने लगे थे। इस प्रमाण के संस्थापक पाश्यचात्य जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट माने जाते हैं। परन्तु काण्ट का यह मानना था कि नीतिपूर्ण एवं शुभ ईश्वर हमारी आस्था का विषय है; न कि संज्ञान का। काण्ट ने यह स्पष्ट रुप से कहा था कि ''तारों से भरा आकाश और मन के अन्दर नैतिक नियम ऐसी दो वस्तुएँ हैं; जिनपर हम जितनी ही अधिक बार और नित्यता की दृष्टि से विचार करें; उतना ही नवीन रुप से (ईश्वर के प्रति) भाव विभोर और उदात्त भाव का संचार होता है।''

11.2 ईश्वर की सिद्ध के लिए नीतिमूलक प्रमाण

कुछ दार्शनिकों ने नीतिपरक प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रमाण का आधार मनुष्य का नैतिक अनुभव है। इस प्रमाण के समर्थकों का कहना है कि नैतिक अनुभव की सन्तोषप्रद व्याख्या के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों का यह स्पष्ट अभिमत है कि ''ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बिना हम अपने नैतिक कर्त्तव्य, नैतिक मूल्यों तथा उच्चतम एवं पूर्ण शुभ की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते।''

इस प्रकार नीतिमूलक तर्क जैसा कि गैलवे ने कहा है कि–''यह प्रदर्शित करने का प्रयास करता है कि ईश्वर के अस्तित्व में नैतिक जीवन की समस्याओं का अति उत्तम समाधान मिलता है।''

11.3 नीतिमूलक प्रमाण के संस्थापक काण्ट का मत

पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता के लिए इस युक्ति को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय काण्ट को दिया जा सकता है। काण्ट ने यह सिद्ध किया कि ईश्वर सम्बन्धी विचार बाह्य विश्व की व्याख्या से नहीं प्राप्त होता है। ईश्वर सम्बन्धी विचार का स्रोत मानव का नैतिक एवं आन्तरिक जीवन है। काण्ट के अनुसार नैतिक आत्मा सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए

सदैव प्रयत्नशील रहती है। सर्वोच्च शुभ में धर्म एवं सुख नामक दो तत्व हैं। कर्त्तव्य पूर्ति की चेतना (Conciousness of duty fulfilled) को धर्म एवं तृप्त इच्छा की चेतना (Conciousness of desire fulfilled) को सुख कहा जाता है। लेकिन धर्म एवं सुख का सम्बन्ध काण्ट के अनुसार दो अलग–अलग विश्व से है। धर्म बौद्धिक विश्व (Intelelectual world) एवं सुख दृश्य जगत से सम्बन्धित है। सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए इन दोनों विपरीत तत्वों का मिलन आवश्यक है। परन्तु सवाल यह है कि यह कैसे संभव है? काण्ट इस समस्या का समाधान दोनों जगत का आधार ईश्वर को मानकर करता है। काण्ट का मानना है कि ईश्वर ही वह सत्ता है जो धर्म एवं सुख को मिलाकर सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार काण्ट के मत सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है।

काण्ट ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के लिए एक दूसरे आधार पर भी आवश्यक मानता है। उसका कहना है कि नैतिकता की यह मूल मान्यता है कि शुभ एवं नैतिक कार्य करने वाला व्यक्ति सुखी तथा अशुभ एवं अनैतिक कार्य करने वाला व्यक्ति दुःखी होगा। ऐसी स्थिति में एक ऐसी चेतन सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है जो मनुष्य के शुभाचरण के अनुपात में आनन्द की व्यवस्था करे।

11.4 भारतीय दर्शन में नीतिमूलक प्रमाण की संकल्पना

भारतीय दर्शन में महर्षि गौतम, वात्स्यायन जैसे नैयायिक एवं शंकर जैसे अद्वैत वेदान्ती का भी यह मानना है कि ईश्वर की कर्माध्यक्ष के रुप में सत्ता स्वीकार करना आवश्यक है। यदि एक असीम शक्ति एवं ज्ञान से परिपूर्ण न्यायशील ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जाय; तो कर्म–फल जैसे सार्वभौम नियत की व्याख्या नहीं संभव होगी। इसलिए हमें ईश्वर के रुप में एक न्यायाधीश की सत्ता को स्वीकार करना होगा, जो संसार के सभी मनुष्यों को उनके शुभ–अशभ कर्मो के अनुपात में सुख–दुःख प्रदान करता है।

11.5 जेम्स मार्टिनों का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

काण्ट की भॉति मार्टिनों ने भी नैतिक प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। मार्टिनों का यह मानना है कि नैतिक आदर्श की सत्यता के लिए ईश्वर की सत्ता को मानना आवश्यक है। नैतिक आदर्श का अर्थ है आत्मा की पूर्णता।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर नैतिकता की प्राप्ति के लिए विवशता का अनुभव करता है; जिससे यह सिद्ध होता है कि नैतिक आदर्श भ्रममात्र या असत्य नहीं है। यदि नैतिक आदर्श को असत्य कहा जाय; तब नैतिकता निरर्थक हो जाएगी। चूँकि नैतिक आदर्श सत्य हैं; इसलिए ईश्वर ही नैतिक आदर्श का प्रतीक है। इस प्रकार नैतिक आदर्श के प्रतीक के रुप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

11.6 काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

परन्तु काण्ट, भारतीय दार्शनिकों एवं मार्टिनो का नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असफल रहता है। जहाँ तक काण्ट के तर्क का सवाल है तो वे पारमार्थिक एवं व्यावहारिक जगत तथा धर्म एवं सुख नामक दो विपरीत तत्वों को स्वीकार कर ईश्वर द्वारा इसमें एकता स्थापित करने का प्रयास किये हैं। परन्तु यह संभव नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर में सुख का भाव नही हो सकता। सुखर तो वासनाओं की तृप्ति से ही संभव होता है और ईश्वर में वासनाएँ नहीं हो सकतीं। अतएव सुख से दूर रहने वाला ईश्वर धर्म एवं सुख में कैसे एकता स्थापित कर सकता है? काण्ट का यह समन्वय कृत्रिम मालूम पड़ता है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर धर्म एवं सुख में समन्वय स्थापित करता है; तो ससीम हो जाता है; क्योंकि वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह कार्य करता है। परन्तु ससीम ईश्वर को धर्म का ईश्वर नहीं कहा जा सकता।

11.7 काण्ट के नीतिमूलक प्रमाण का जेम्स मार्टिनों द्वारा समर्थन

काण्ट का नैतिक तर्क इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ''नैतिक व्यक्ति सुखी होगा'' तथा मार्टिनों का नैतिक तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि ''आत्मा की पूर्णता नैतिक आदर्श है।'' काण्ट एवं मार्टिनों दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि ये कोई स्वंय सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में इन्हें स्वंयसिद्ध सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है। जबतक आधार ही सिद्ध नही होगा; तब तक निष्कर्ष को कोई महत्व नहीं हो सकता।

हालॉकि काण्ट स्वंय अपने नीतिमूलक प्रमाण की वस्तुनिष्ठता का निषेध करते हुए कहते हैं कि यह नीतिपरक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई वस्तुनिष्ठ रुप से प्रामाणिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। यह संदेहवादी के लिए इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि ईश्वर है; किन्तु यह इस बात को प्रमाणित करता है कि यदि वह नैतिकता के दृष्टिकोण से

विचार करना चाहता है; तो उसे अपने व्यावहारिक तर्कबुद्धि के नियमों के अनुरुप इस कथन से सम्बन्धित मान्यता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर का अस्तित्व है। इस प्रकार यह एक व्यक्तिनिष्ठ तर्क है; जो नैतिकता को स्वीकार करने वाले मनुष्यों के लिए प्रभावशील है।

11.8 पाश्चात्य दर्शन के विभिन्न अन्य दार्शनिकों द्वारा नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन

पाश्चात्य दर्शन के डेविड ऐल्टन, ट्रब्लड, हेस्टिंग्स रैशडल, जे0एच0 कर्डिनल, न्यूमैन, डी0एम0 बेली, जान बेली, एच0डी0लेविस, टेलर, सोर्ले, एच0एच0जे0 पेटन जैसे आधुनिक एवं समकालीन दार्शनिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए नीतिपरक प्रमाण को प्रस्तुत किया है। हेस्टिंग्स रैशडल का मानना है कि नैतिकता की व्याख्या पूर्ण बुद्धि के आधार पर ही संभव हैं। यही पूर्ण बुद्धि नैतिक आदर्शो का स्रोत एवं आश्रय है। यही मान्यता धर्म में ईश्वर के विश्वास के रुप में विकसित होती है।

11.9 हेस्टिंग्स रैशडल का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

हेस्टिग्स रैशडल स्पष्टतया यह कहते हैं कि ''यद्यपि ईश्वर में विश्वास सभी प्रकार के नैतिकता का आधार नहीं है; किन्तु यह वस्तुनिष्ठ तथा निरपेक्ष नैतिकता की पूर्व मान्यता अवश्य है। एक नैतिक आदर्श बुद्धि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं हो सकता। निरपेक्ष नैतिक आदर्श की सत्ता केवल ऐसी बुद्धि में संभव है जिससे सम्पूर्ण वास्तविकता का उद्‌गम होता है। इस विश्वास को नैतिकता की उपमान्यता कहा जा सकता है।

11.10 डेविड ऐल्टन ट्रब्लड का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

ईश्वर अस्तित्व के सम्बन्ध में नीतिपकर तर्क प्रस्तुत करते हुए डेविड ऐल्टन ट्रब्लड कहते हैं कि– ''वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था के अभाव में नैतिक अनुभव निरर्थक हैं। ईश्वर के अस्तित्व के बिना वस्तुपरक नैतिकता का कोई महत्व नहीं है। अतएव वस्तुपरक नैतिक नियम की स्वीकृति हमें ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है; जिसके बिना इस नियम का कोई महत्व नहीं रह जाएगा। यदि हम इस नियम में विश्वास करते हैं तो हमें अनिवार्यतः उन स्थितियों में भी विश्वास करना होगा; जो इस नियम को संभव बनाती है।''

11.11 डी0 एम0 बेली का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

डी0एम0बेली ने ट्रब्लड क`मत का समर्थन करते हुए कहा है कि– ''जब तुम अपनी नैतिक चेतना को गम्भीरता पूर्वक स्वीकार करते हैं; तो वह हमें धार्मिक सत्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में उलझा देती हैं।''

परन्तु मानव का सामाजिक जीवन ही नैतिकता का मूलस्रोत है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों तथा नैतिक नियमों की व्याख्या के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त नैतिक नियमों एवं मूल्यों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता को लेकर भी दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है। कुछ दार्शनिक इसे व्यक्तिनिष्ठ एवं सापेक्ष मानते हैं।

11.12 प्रो0 टेलर का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

प्रो0 टेलर का कहना है कि ''बाह्य प्रकृति में हम ईश्वर को अधिक से अधिक ऐसे परिवर्तनीय रुप में देखते हें जो उसके वास्तविक स्वरुप का आवृत्त ज्ञान प्रदान करता है। इसकी अपेक्षा अपने नैतिक जीवन में हम ईश्वर का अनावृत्त अथवा वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं।''?

11.13 नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन करने वाले विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोण का निहितार्थ

नीतिपरक प्रमाण का समर्थन करने वाले कुछ दार्शनिकों का यह भी मानना है कि– ''हमारे नैतिक मूल्य तथा नियम निरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ठ हैं और हमारी अन्तश्चेतना का स्रोत अनिवार्यतः कोई दैवी अलौकिक शक्ति है। पुनश्च अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नैतिक मूल्यों तथा नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता और अन्तश्चेतना के गहन प्रभाव की संतोषप्रद एवं युक्तिसंगत व्याख्या करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्यत है। इन दार्शनिकों का यह भी दावा है कि इस नीतिपरक प्रमाण के द्वारा हम ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं।

11.14 नीतिमूलक प्रमाण की समीक्षा

परन्तु अन्तश्चेतना की व्याख्या मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधर पर ही की जा सकती हैं इसके लिए ईश्वर या अन्य किसी दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि अन्तश्चेतना उस समाज की प्रतिध्वनि है जिसमें हमने जन्म लिया

तथा जिसमें हमारा पालन–पोषण हुआ। यही कारण है कि परस्पर विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं में परस्पर विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियोंकी अन्तश्चेतना परस्पर विरोधी आदेश देती है। जहाँ एक व्यक्ति की अन्तश्चेतना गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा का आदेश देती है, वहीं दूसरे व्यक्ति की अन्तश्चेतना उसका मांस भक्षण का आदेश देती है। क्या एक ही ईश्वर भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को परस्पर विरोधी आदेश देता है? इस प्रकार मनुष्य की अन्तश्चेतना या अन्तरात्मा के आधार पर तर्कसंगत रुप से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

11.15 जे0 एच0 कार्डिनल एवं न्यूमैन का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

जे0एच0 कर्डिनल एवं न्यूमैन नैतिकता के लिए ईश्वर के अस्तित्व के अनिवार्यता से सम्बन्धित ईश्वरवादियों के दावे का समर्थन करते हुए कहते हैं कि– ''यदि हम अन्तश्चेतना के प्रति दायित्व का अनुभव करते हैं, उसके आदेश का उल्लंघन करने के कारण लज्जित तथा भयभीत होते हैं तो इसका अर्थ यही है कि ईश्वर है जिसके समक्ष हम लज्जित होते हैं और जिसके दण्ड से भयभीत होते हैं''। ––––– यदि इन संवेगों के कारण इस दृश्य संसार में विद्यमान नही है; तो जिस सत्ता के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा व्यक्ति का ज्ञान उन्मुख होता है, वह अवश्य ही अलौकिक या दैवी या ईश्वर है।''

परन्तु नैतिकता का आधार ईश्वर या अन्य कोई दैवी शक्ति न होकर मनुष्य का सामाजिक जीवन ही हैं। नैतिक संकल्पना की व्याख्या के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना अनावश्यक तथा निरर्थक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि नैतिकता को एक आदर्श तथा साथ ही साथ वस्तुनिष्ठ मान लिया जाय, तो आदर्श एवं यथार्थ का अन्तर समाप्त हो जाएगा और यदि नैतिक–नियम ईश्वर के बिना संभव न माना जाय; तो ऐसी स्थिति में हमें यह स्वीकार करना होगा कि सब कुछ निरपेक्ष परमसत्ता से ही घटित होता है। जब सब कुछ ईश्वर से ही घटित होगा, तो हमें नियतिवाद को स्वीकार करना होगा। यदि हम नियतिवाद को स्वीकार कर लेते हैं तो मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता भी नहीं होगी। मनुष्य के संकल्प स्वतंत्रता के अभाव में नैतिकता का भी कोई अर्थ नही होगा। यही कारण है कि निकोलाई

हार्टमैन जैसे कुछ विचारकों का यह मानना है कि–''नैतिकता के लिए ईश्वर के अस्त्वि को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। नैतिक नियम स्वंय श्रद्धा का विषय है। अतः नैतिकता ईश्वर पर आधारित नहीं है।''

11.16 निष्कर्ष

निष्कर्षः यह कहा जा सकता है कि नैतिक संकल्पना के उत्पत्ति तथा सार्थकता के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि नीतिपरक प्रमाण में ईश्वर को साध्य न मानकर साधन माना जाता है, जो धार्मिक भावना के प्रतिकूल है। व्यक्ति नैतिकता को सामान्यतः इसलिए स्वीकार करता है; क्योंकि वह ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर में विश्वास नैतिकता पर आधारित नहीं होता; बल्कि नैतिकता में आस्था ईश्वर विश्वास पर आधारित है। इस प्रकार यह कहा सकता है कि नैतिक मान्यता पर आधारित ईश्वर धर्म में स्वीकृत ईश्वर नहीं हो सकता। यह केवल दार्शनिकों का ईश्वर हो सकता है।

11.17 सारांश

ईश्वर की सत्ता के सन्दर्भ में नीतिमूलक प्रमाण को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट को है। इमान्युल काण्ट का यह कहना है कि मानव जीवन का परम आदर्श निःश्रेयस् की प्राप्ति है। यह निःश्रेयस् की प्राप्ति है। यह निःश्रेयस् परम आनन्द है। परम आनन्द शुभ संकल्प एवं सुख का समन्वय है। निरपेक्ष शुभ में शुभ संकल्प एवं आनन्द दोनों ही तत्व समाहित है। ईश्वर ही वह सत्ता है; जो परम निःश्रेयस् है। इस प्रकार काण्ट यह दिखाते हैं कि शुभ से आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार अनुभूति ही ईश्वर की अनुभूति है। काण्ट के पश्चात् अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों जैसे, न्यूमैन, जेम्स मार्टिन, सोर्ले रैशडेल, डी0 एम0 बेली, जॉन बेली, इत्यादि ने नीतिमूलक प्रमाण को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया। कुछ दार्शनिकों ने नीतिमूलक प्रमाण के औचित्य को तकनीकि आधार पर अस्वीकार किया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि नीतिमूलक प्रमाण संज्ञानात्मक दृष्टि से स्वीकार्य न होने के कारण ईश्वर की सत्ता की सिद्धि करने में असफल रहता है।

11.18 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये नीतिमूलक प्रमाण की व्याख्या कीजिएं।
2. क्या काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर पाता है? व्याख्या कीजिए।

11.19 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–12

ईश्वर की अस्तित्व की सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभूति का प्रमाण

इकाई की रुपरेखा–

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभूति का प्रमाण

12.3 अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले धर्म परायण व्यक्तियों का अनुभव

12.4 ईश्वर की धार्मिक अनुभूति होती है; किन्तु यह अवर्णनीय है।

12.5 ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में धार्मिक अनुभव के समानता पर आधारित तर्क

12.6 ईश्वर के सम्बन्ध में निरीश्वरवादी विचारधारा

12.7 व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार

12.8 धर्म परायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता के रुप में मानना

12.9 निष्कर्ष

12.10 सारांश

12.11 प्रश्न बोध

12.12 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रस्तुत प्रत्ययमूलक प्रमाण, विश्वमूलक प्रमाण, उद्देश्यमूलक प्रमाण, तथा नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने में असफल रहें हैं; क्योंकि ये सभी प्रमाण ईश्वर के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक संज्ञान देने में असमर्थ रहे है। इसलिए यह प्रश्न फिर उभरकर आता है कि क्या ईश्वर की सत्ता को तर्क के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है? यदि ईश्वर तर्क का विषय नहीं है तो इसे किस माध्यम से

जाना जा सकता है? अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के सम्बन्ध में उठने वाले ऐसे प्रश्नों का समाधान धार्मिक अनुभूति में पाने का प्रयास किया है। प्रायः ईश्वर के सम्बन्ध में उठने वाले ऐसे प्रश्नों का समाधान धार्मिक अनुभूति में पाने का प्रयास किया है। प्रायः ईश्वर के सम्बन्ध में यह पूछा जाता है कि विश्व में प्रचलित सभी ईश्वरवादी धर्मो का उद्देश्य यदि ईश्वर की सत्ता की अनुभूति करना है; तो ऐसी स्थिति में हमें ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के स्थान पर इसे धार्मिक अनुभूति का बनाना चाहिए। यदि ईश्वर हमारे धार्मिक अनुभूति का विषय बन जाए; तो इसे किसी बाह्य जगत में खोजने की न तो आवश्यकता रह जाएगी।

12.1 प्रस्तावना

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए बुद्धि को संतुष्टि प्रदान करने वाले तर्क संभव नहीं होने पर बुद्धि को किसी ऐसे आधार का अनुभव करने लगे; जिससे यह सिद्ध हो सके कि यदि ईश्वर तर्क बुद्धि का विषय नहीं है तो इसकी सत्ता की सिद्धि कैसे संभव है? इस प्रश्न का ही समाधान पाने के लिए बुद्धि धार्मिक अनुभूति के शरण में चली जाती है। प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मो में ईश्वर को अनुनय–विनय का विषय माना जाता है; वैज्ञानिक प्रमाण का नहीं। अनुनयात्मक प्रमाण ईश्वर में दृढ़ विश्वास का ही एक प्रतिरुप है। जहाँ तक अनीश्रवादी के लिए अनुनयात्मक युक्तियों के रुप में ईश्वर से सम्बन्धित जितने भी प्रमाण है; वह सभी निरर्थक हैं। भक्त ईश्वर की अनुभूति से सरोबोर होकर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए युक्तियों का प्रयोग इस आशा से करता है कि अन्य धर्म–परायण व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगें। इस सन्दर्भ में धार्मिक अनुभूति से सम्बन्धित प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक व्यक्तियों और धार्मिक महापुरुषों की आध्यात्मिक अनुभूतियों को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का एकमात्र समर्थ प्रमाण माना है।

12.2 ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभूति का प्रमाण

अधिकांश दार्शनिकों का यह मानना है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए बुद्धि को संतुष्ट करने वाले प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं और आगे भी प्राप्त नहीं हो सकते। उनका मानना है कि वास्तव में ईश्वर की सत्ता को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मूलतः धार्मिक अनुभूति का विषय है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में धर्म–दार्शनिक

अपना तर्क इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं– ''मैने ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है; अतः मेरे पास इस विश्वास का पर्याप्त कारण है कि वास्तव में उसका अस्तित्व है।''

सी0डी0 ब्राड के अनुसार धार्मिक अनुभूति की व्यापकता से सिद्ध होता है कि इसमें व्यक्ति का वास्तविकता से ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता हे जो अन्य साधनों से नहीं हो सकता।

12.3 अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले धर्म परायण व्यक्तियों का अनुभव

डेविड ऐल्टन ट्रब्लड, एच0एच0 फार्मर आदि दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभव के तर्क को पूर्णतः सत्य एवं प्रामाणित मानते हैं। ट्रब्लड कहते हैं कि– 'लाखों व्यक्तियों ने यह बतलाया है और अब भी बता रहे हैं कि उन्होंने ईश्वर को उसी प्रत्यक्ष एवं गहराई से जाना है जैसे वे अन्य व्यक्तियों एवं भौतिक वस्तुओं को जानते हैं। ———— यह तथ्य कि अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत से व्यक्तियों ने जिनमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे मनुष्यों की हैं; जिन्हें सामान्यतः श्रेष्ठतम् एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता रहा है– प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव का उदाहरण दिया है, हमारे संसार के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्यों में से एक है। ———— ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि हमारे समक्ष दो ही विकल्प रह जाते हैं। या तो ईश्वर है अथवा वे सभी जिन्होंने उसे जानने का दावा किया है; भ्रम में रहे हैं

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया धार्मिक अनुभव सम्बन्धी तर्क वस्तुतः ईश्वर को सिद्ध करने में समर्थ है कि नहीं। यहाँ सम्भवतः यह प्रश्न उठता है कि 'धार्मिक–अनुभव' से उनका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में धर्म–दार्शनिक प्रायः यही कहते हैं कि धार्मिक अनुभव ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है; जिससे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है।

परन्तु धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाले दार्शनिक बिना किसी प्रमाण के पहले से ही यह मान लेते हैं कि ईश्वर है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव धर्मपरायण व्यक्तियों को प्राप्त होता है। यही कारण है कि हमारे पास उनके हर दावे को स्वीकार करने का कोई विश्वसनीय एवं तर्कसंगत आधार नहीं है कि धर्मपरायण व्यक्तियों को जो अनुभव प्राप्त होता है, वह वस्तुतः ईश्वर का अनुभव' है। यह तो स्वीकार किया जा

सकता है कि इन व्यक्त्यिों को एक विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है जो निरीश्वरवादियों को नहीं प्राप्त होता। परन्तु यह तथ्य केवल इतना ही सिद्ध करता है कि धार्मिक अनुभव एक विशेष प्रकार की मनोदशा है जिसका धर्मपरायण व्यक्ति अनुभव करते हैं। उनकी इस मनोदशा से बिल्कुल यह प्रमाणित नहीं होता कि उनके अपने मन से पृथक और स्वतंत्र किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व है।

12.4 ईश्वर की धार्मिक अनुभूति होती है; किन्तु यह अवर्णनीय है।

कुछ धर्म दार्शनिकों का मानना है कि जो ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है; उसका वर्णन करना संभव नहीं है। उनके अनुसार यह अनुभव पूर्णतः आत्मनिष्ठ है और वह किसी बाह्य–वस्तु के ऐसे वस्तुपरक ज्ञान का आधार नहीं हो सकता जो सामान्य परिस्थितयों में सभी मनुष्यों को उपलब्ध हो सके। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्ति संदग्धि रुप से कैसे यह दावा कर सकते हैं कि उन्हें जो अवर्णनीय अनुभव प्राप्त होता है वह वास्तव में 'ईश्वर का अनुभव' है? यदि उनका धार्मिक अनुभव सचमुच अवर्णनीय है तो उसके आधार पर तर्कसंगत रुप से यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह किसी विशेष वस्तु का अनुभव है? ज बवे अपने इस धार्मिक अनुभव के आधार पर यह दावा करते हैं कि वह ईश्वर का अनुभव है तो उनके विचारों में अनिवार्यतः असंगति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि एक ओर वे यह दावा करते है कि यह अनुभव ऐसी वस्तुपरक सत्ता का अनुभव है; जिसे ईश्वर कहा जाता है और जिसका विशेष स्वरुप है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं; जिन्हें तर्कसंगत रुप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिक एफ0 आर0 टैनैन्ट ने अपनी कृति 'फिलॉसफिकल थियोलॉजी' में इस तर्क को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ माना है। टेनैन्ट के मत में– ''धार्मिक अनुभूति इतनी अधिक आत्मनिष्ठ एवं व्यक्तिगत होती है कि उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।''

12.5 ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में धार्मिक अनुभव के समानता पर आधारित तर्क

कुछ धर्म दार्शनिक ईश्वर की सत्ता का प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते हैं कि धर्मपरायण व्यक्तियों को धार्मिक अनुभव समान रुप से ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है जिसके आधार पर एक सर्वमान्य ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है।

परन्तु प्राचीन काल से वर्तमान युग तक विभिन्न धर्मो का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि देश–काल, संस्कृति एवं धर्म की भिन्नता के कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर–विषयक धार्मिक अनुभव एक दूसरे से भिन्न नहीं; प्रत्युत् एक दूसरे के विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ ईसाईयों का धार्मिक अनुभव यह बताता है कि ईश्वर दयालु तथा प्रेममय है; जबकि यहूदियों का धार्मिक अनुभव यह कहता है कि ईश्वर क्रोधी और प्रतिशोध लेने वाला है। इतना ही नहीं एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव भी परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ वैष्णव–दर्शन के विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करने वाले हिन्दू ईश्वर को सगुण साकार तथा व्यक्तित्व सम्पन्न मानते हैं, इसके विपरीत शंकराचार्य का समर्थन करने वाले हिन्दू केवल निर्गुण एवं निर्विकार व्रत में ही विश्वास करते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए तर्कसंगत रुप से यह कहना असंभव हो जाता है कि इन विरोधी मतों में से कौन सा सत्य मत है और कौन सा मिथ्या।

12.6 ईश्वर के सम्बन्ध में निरीश्वरवादी विचारधारा

इसके अतिरिक्त कुछ धर्मपरायण व्यक्तियो के धार्मिक अनुभव में ईश्वर के लिए कोई स्थान ही नहीं है। गौतम बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस आदि अनेक महान विचारकों ने भी अपने धार्मिक अनुभव ईश्वरवादियों के धार्मिक अनुभव के ठीक विपरीत हैं और ये दोनों ही अपने–अपने धार्मिक अनुभव को पूर्णतः सत्य तथा प्रामाणिक मानते हैं। वास्तव में पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के कारण मनुष्यों का यह धार्मिक अनुभव न तो ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि करता है और न ही उसका खण्डन; अतः इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता के लिए धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण का कोई महत्व नहीं।

12.7 व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार

कुछ धर्म दार्शनिकों का यह भी विश्वास है कि उन्हें ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ हैं परन्तु वे ईश्वर के स्वरुप के विषय में अपने व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर अलग–अलग ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी बातें कहते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि उनके ये तथाकथित ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव भ्रामक हो सकते हैं। इस प्रकार यदि ईश्वरवादी दार्शनिकों के इस दावे को स्वीकार भी कर लिया जाए कि कुछ धर्म दार्शनिकों को ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ है तो भी उनके इस आत्मनिष्ठ अनुभव को ईश्वर के अस्तित्व के लिए विश्वसनीय एवं वस्तुपरक प्रमाण नही माना जा सकता।

अनेक विचारकों का यह मानना है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक–अनुभव सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिकों से यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के प्रत्यक्ष से उनका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के प्रत्ययुत्तर में ट्रब्लड यह कहते हैं कि– ''धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को उसी प्रकार प्रत्यक्ष रुप से जानते हैं जिसप्रकार हम अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं।''

12.8 धर्म परायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता के रुप में मानना

परन्तु ट्रब्लड का यह उत्तर युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर को ऐसी अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता मानते हैं जो मनुष्य के ज्ञान धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः यह कहते है कि ईश्वर कोई वस्तु या व्यक्ति नही है, अतः उसे भौतिक वस्तुओं की भॉति मानवीय अनुभव और तर्क बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन है कि 'ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव का क्या अर्थ हो सकता है? जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं तो मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। परन्तु ईश्वरवादी दार्शनिक एक ओर ईश्वर को अलौकिक एवं अनुभवातीत सत्ता मानते है और दूसरी ओर वे यह भी दावा करते हैं कि बहुत से धर्मपरायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को एक साथ स्वीकार करने के फलस्वरुप इन दार्शनिकों के विचारों में गम्भीर सतोव्याघा व उत्पन्न हो जाता है जो उनके धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण को अत्यधिक दुर्बल एवं अविश्वसनीय बना देता है। वस्तुतः ईश्वर को अलौकिक एवं अनुभवातीत मानते हुए किसी व्यक्ति को उसके प्रत्यक्ष अनुभव की प्राप्ति की बात करना पूर्णतः निरर्थक है। यदि मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना संभव नहीं है तो इस अनुभव की सत्यता एवं प्रभावशीलता के समर्थन में ट्रब्लड द्वारा दिए गए इन तर्कों का कोई महत्व नहीं रह जाता कि विभिन्न सभ्यताओं, युगों तथा देशों में बहुत से धर्मपरायण व्यक्तियों ने यह अनुभव प्राप्त किया है।

12.9 निष्कर्ष

सारतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रह जाता है; क्योंकि इन्द्रियों के बिना ईश्वर विचार संभव नहीं

रुढ़िवादिता है। इन सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के सत्ता से सम्बन्धित प्रमाण केवल धार्मिक अनुभूति के रूप में संभव है। प्रतीकों को ही विभिन्न धर्मो में ईश्वर की विभिन्न प्रतिमाओं के रूप में जाना जाता है और इन्हीं प्रतीकों के सम्पूर्णता की प्राप्ति को धार्मिक अनुभूति कहा जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रतीकों के दर्शन से उत्पन्न अनुभूति को कहा जा सकता है। इस प्रकार यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि धर्म परायण व्यक्ति केवल अपने मनस के द्वारा ही ईश्वर की अनुभूति कर सकता है और हमारे लिए यह निश्चित रुप से यह कह पाना कठिन है कि अनुभूति रुप से यह कह पाना कठिन है कि ईश्वर से धार्मिक अनुभूति उत्पन्न होती है या धार्मिक अनुभूति से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है ऐसा इसलिए है क्योंकि धार्मिक अनुभूति आत्मप्रमाणित होती है।

12.10 सारांश

ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विभिन्न प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सत्ता की युक्तियों के आधार पर सिद्धि संभव न रह जाने पर अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर को धार्मिक अनुभूति का विषय मान लिया और यह दिखाया कि प्रायः योगियों, सन्तों एवं महापुरुषों को ईश्वर की अपरोध अनुभूति होती है। इस प्रकार के धार्मिक अनुभूति का समर्थन करने वाले दार्शनिकों का यह कहना है कि योगी समाधि में संभाषण करता है। उसका संस्पर्शन करता है और अव्यवहित रुप से उसकी अमृतोपम वाणी का श्रवण करता है। उसकी ईश्वरानुभूति प्रत्यक्षजन्य न होकर अपरोक्षजन्य है। प्रत्यक्ष अनुभूति इन्द्रियपरक होती है; जबकि अपरोक्ष अनुभूति अतीन्द्रिय निर्विकल्पक स्वानुभूति है। इसलिए सभी रहस्यवादियों को ईश्वर की अनुभूति साक्षात् रुप से हुई थी, जिसकी वाणी में निर्वचन करने में वे असमर्थ रहें है। अह। ब्रह्मस्मि, ब्रह्मैवब्रह्मवेद भवति, तत्वमसि, आत्ममैववेद सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यादि वैदिक वाणी ईश्वर के अनुभूति के सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण हैं। स्पिनोजा अपने को ईश्वर प्रेमोन्नत (Amor Dei) कहते थे। वे ईश्वरानुभूति को अन्तर्दृष्टि द्वारा संभव मानते थे; जिसका स्तर प्रकृतितः अतिबौद्धिक है। ईश्वरानुभूति को सत्य या असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता; जिसके कारण इसके संज्ञानात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। योगियों, सन्तों एवं महापुरुषों के अनुभव को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि वह स्वानुभूति है। इसीलिए रुडोल्फ ऑटो ईश्वरानुभूति को अनूठी अथवा स्वर्गीय

(Sin Generis) मानते है; जो प्रकृतितः अकथनीय है। बर्गसॉ का तो यहाँ तक कहना है कि सृष्टि का परम उद्देश्य है कि मानव ईश्वर के रहस्यात्मक अनुभूति की सहायता से ईश्वर के समय सर्जनहार देवत्व को प्राप्त करे। ऑटो का तो यहाँ तक कहना है कि ईश्वर की अनुभूति; जिसे वे रहस्यात्मक अनुभूति कहते है; पर अपना विचार व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि –**''रहस्यात्मक अनुभूति अबौद्धिक और अयौक्तिक है।''**

ईश्वर की अस्तित्व की सिद्धि से सम्बन्धित जितने भी प्रमाण है; वे सभी प्रतीकात्मक हैं। प्रायः जिस सत्ता को अभिव्यक्त करने में सामान्य भाषा असमर्थ होती है, वहाँ प्रतीकों के माध्यम से धर्म परायण व्यक्तियों में असाक्षात् रीति से ईश्वर में नैतिक गुणों का आरोपण करना और उसे विश्व के कारण या प्रायोजक के रुप में सिद्ध करना उसके प्रतीकात्मक आचरण का ही प्रकटन है। प्रतीकात्मक कथन असंज्ञानात्मक होता है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर अनुभूति की कथनीयता; जो निश्चित विश्वास का विषय है और जिसे न तो आत्मनिष्ठ रुप से और न ही वस्तुनिष्ठ रुप से समझाया जा सकता है। वह शाब्दिक न होकर मात्र प्रतीकात्मक है। ईश्वर को धर्म परायण व्यकित केवल आस्था की ही भाषा में ही समझा जा सकता है। आस्था की भाषा प्रतीकों की भाषा है।

12.11 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभूति प्रमाण की व्याख्या कीजिएं।
2. क्या धार्मिक अनुभूति से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है? विवेचना कीजिए।

12.12 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

DECPH-101(N)

धर्म दर्शन

खण्ड–4 (अशुभ की समस्या)

खण्ड–4

खण्ड परिचय–

मनुष्य को अपने धार्मिक जीवन में 'शुभ' के साथ–साथ अशुभ का भी सामना करना पड़ता है। यह अशुभ धर्म के आदिम अवस्था से लेकर धर्म के विकसित अवस्था तक किसी न किसी रूप विद्यमान रहा है। धर्म परायण व्यक्ति के समक्ष 'अशुभ' समस्या के रूप में तब उभर कर आता है; ज बवह ईश्वर के सम्बन्ध में एकेश्वरवाद की अवधारणा को अपने जीवन में प्रमुखता देता है। यदि देखा जाए; तो आदिम धर्म में भी अशुभ मानव जीवन में विभिन्न रूपों में विद्यमान था; किन्तु आदिम मानव अपने जीवन में इस समस्या से पूर्णतः अपरिचित दिखायी देता है। आदिम धर्म में प्राणवाद अशुभ की सत्ता को स्वीकार करता है; किन्तु उसके लिए अशुभ की सत्ता को स्वीकार करता है; उसके लिए अशुभ कोई अनबूझ पहेली नहीं है। प्राणवाद के अनुसार शुभ और अशुभ के कारण क्रमशः अच्छी और बुरी शक्तियाँ है। टोटमवाद अथवा पूर्वज–सिद्धान्त के लिए अशुभ कोई समस्या नहीं है। इस सिद्धान्त के लिए भी अशुभ कोई समस्या नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार मृत पूर्वज प्रेतात्मा के रुप में इधर–उधर भटकते रहते है। उनकी प्रसन्नता से शुभ और अप्रसन्नता से अशुभ उत्पन्न होता है। टोटमवाद का यह मानना है कि पूजा विधि में जब कोई कमी होती है; जब जिन्हें आदिम मानव टोटम के रुप मे पूजता है; वे असंतुष्ट होकर विश्व में बुराईयों को जन्म देते हैं। इस प्रकार अशुभ टोटम के नाराजगी का प्रतिफल है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि धर्म के आदिम अवस्था में जब अनेकश्वरवाद की प्रवृत्तियाँ धर्म में विद्यमान थीं; तब अशुभ को किसी समस्या के रुप में नहीं ग्रहण किया गया है; क्योंकि जब तक अनेकेश्वाद की प्रवृत्ति विद्यमान रही है; तब तक यह भी माना जाता रहा है कि 'शुभ का कारण शिष्ट देवता है और अशुभ का कारण विनाशकारी देवता हैं। इस प्रकार अनेकेश्वाद भी अशुभ को देवताओं के असन्तुष्टि का परिणाम मानता है। द्वैतवाद भी अशुभ की समस्या से मुक्त है। द्धैतवाद के अनुसार शुभ का कारण देवता है और अशुभ का

कारण शैतान है। पारसी धर्म अहुरमज्जा को शुभ का प्रतीक कहता है और अहिर्मन को अशुभ का प्रतीक कहता है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में देव और राक्षस इस्लाम धर्म में खुदा और शैतान को क्रमशः शुभ और अशुभ को ही अयथार्थ कहता है और इसे शुभ का ही एक अंग मानता है। सर्वेश्वरवाद यह मानता है कि विश्व सर्वोच्च शुभ (ईश्वर) की ही अभिव्यक्ति है। अशुभ वास्तव में अज्ञान के दृष्टि का परिणाम है। अशुभ न आदि में है और न ही अन्त में। जिसकी सत्ता न आदि में होगी और न अन्त में होगी; उसकी सत्ता मध्य में होगी। जिसकी सत्ता मध्य में होगी वह न तो पूर्णरुपेण सत् होगा और न ही पूर्णरुपेण असत् होगा। ऐसी स्थिति में अशुभ एक प्रकार के अज्ञान की अवस्था होगी; वह शुभ दिखायी पड़ने लगेगा। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर निर्गुण और निवैव्यक्तिक सत्ता होने के कारण सभी प्रकार के शुभ और अशुभ गुणों से अतीत है। अतएव सर्वेश्वरवाद में अशुभ किसी प्रकार की समस्या नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट रुप से कहा जा सकता है कि अशुभ के सम्बन्ध में एक प्रमुख प्रशन यह उठता है कि अशुभ है क्या? सामान्यतः यह माना जाता है कि जो सृष्टि के सभी प्राणियों के लिए दुःखद, असुखकर, अमंगलकारी तथा अशिव है; वह अशुभ है। इस प्रकार मानव जीवन में अशुभ एक अनुभूत तथ्य है; जिसके कारण विश्व में विविध प्रकार के कष्ट, अन्याय, पाप और दुराचार देखें जाते है। यदि यह माना जाए कि सत्य, शिव और सुन्दर परम शुभ हैं, तो ऐसी स्थिति इसके विपरीत जो असत्य, अशिव और असुन्दर हैं, वह ही अशुभ है। इसीलिए प्रो0डी0एम0 एडवर्ड ने विश्व में अशुभ के चार रुपों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस विश्व में दुःख, असत्य, कुरुपता एवं पाप के रुप में कम से कम चार अशुभ व्याप्त हैं।

भारतीय दर्शन के आस्तिक धर्म परम्परा तथा चार्वाक को छोड़कर नास्तिक धर्म परम्परा में सम्पूर्ण जीवन और जगत् को दुःखात्मक माना गया है इसीलिए बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने यहाँ तक कह दिया कि 'सर्वं दुःखं'। सांख्य दर्शन में भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रुप में त्रिविध दुःखों को माना गया है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में भी इक्कीस प्रकार के दुःखों का वर्णन किया गया है। भारतीय दर्शन में विद्यमान दुःख की इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने यह विचाार व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है; क्योंकि इसमें जीवन और जगत् का निषेध किया गया है।

अशुभ सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के समक्ष वह अनुभूत तथ्य है; जिसमें सभी प्राणियों को किसी न रुप में प्रभावित होना पड़ता है। अशुभ दुःख, कष्ट, यातना, दण्ड, युद्ध, आतंक, हत्या, संयास, भूकम्प, बाढ़, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी इत्यादि रुपों में समग्र विश्व को प्रभावित करता है और इसमें सभी प्राणियों को अनेक प्रकार की पीड़िओं से गुजरना पड़ता है।

विश्व में विद्यमान अशुभ के दो रुप प्रचलित हैं–

1. प्राकृतिक अशुभ– वह अशुभ है; जिसका मूल कारण प्रकृति है। प्राकृतिक अशुभ से केवल मनुष्य ही पीड़ित नहीं होता है; अपितु सृष्टि के सभी प्राणी प्रभावित होते हैं।
2. नैतिक अशुभ संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है। मनुष्य अपने सकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करता है, तो ईश्वर उसे दण्डित करने के लिए तथा नैतिक मार्ग पर लाने के लिए प्राकृतिक आपदाओं के द्वारा दण्डित करता है। इसके परिणाम स्वरुप मानव भूख, पीड़ा, संत्रास, हिंसा, चोरी, डकैती, हत्या, व्यभिचार इत्यादि से संत्रस्त होता है।

   प्रस्तुत खण्ड में अशुभ की समस्या पर विचार करते हुए इसे चार इकाईयों में विभक्त किया गया है–

इकाई–1 में अशुभ का अर्थ बताते हुए अशुभ के प्रकार को स्पष्ट किया गया है। इस इकाई में यह विश्व में दुःख, यातना, पीड़ा के रूप में सभी प्राणियों को जो कष्ट मिलता है, वह ही अशुभ है और इस प्रकार का अशुभ दो रूपों में प्रचलित है– प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ

इकाई–2 में अशुभ की समस्या का स्वरुप पर विचार किया गया है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अशुभ की समस्या एक जटिल समस्या के रूप में कब उभरी? इस प्रश्न का ही समुचित उत्तर पाने का इस इकाई में प्रयास किया गया है।

इकाई–3 में विभिन्न दार्शनिकों में अपने–अपने ढग से अशुभ की समस्या के जो समाधान प्रस्तुत किये हैं; उस पर विचार किया गया है और इस बात पर विचार किया गया है कि दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न समाधानों में क्या कोई ऐसा समाधान है; जो मानव बुद्धि

को संतुष्ट करने में समर्थ है? इन प्रश्नों को दृष्टि में रखकर इस इकाई को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इकाई–5 अशुभ की समस्या के औचित्य से सम्बन्धित है। इस इकाई में इस प्रश्न पर प्रमुख रुप से विचार किया गया है कि क्या ईश्वर की हम जिन गुणों से परिपूर्ण मानते हैं और ईश्वर यदि सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता है तो सृष्टि में अशुभ होना चाहिए। यदि विश्व में अशुभ है तो ईश्वर में धर्म परायण व्यक्ति जिन गुणों के कारण आस्था रखता है उसकी आस्था को आघात लगता है और अशुभ सृष्टि में एक अनुभूत तथ्य है, जिससे इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। हमारे जीवन में अशुभ की कोई उपादेयता है; इस प्रश्न पर भी इस इकाई में विचार किया गया है।

इकाई–13

अशुभ का अर्थ और वर्गीकरण

इकाई की रुपरेखा–

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 अशुभ का अर्थ और वर्गीकरण

13.3 भारतीय दर्शन में शुभ की अवधारणा के विपरीत अशुभ की अवधारणा

13.4 विश्व में अशुभ की सर्वव्यापकता

13.5 दुःख के रूप में अशुभ

13.6 अशुभ का वर्गीकरण

13.7 प्राकृतिक अशुभ

13.8 नैतिक अशुभ

13.9 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ में भेद

13.10 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ में घनिष्ट सम्बन्ध

13.11 निष्कर्ष

13.12 सारांश

13.13 प्रश्न बोध

13.14 उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड के इस इकाई में अशुभ के अर्थ और वर्गीकरण पर विचार किया गया है। इस इकाई का उद्देश्य मानव जीवन में अशुभ किस रुप में हमारे जीवन को आप्लावित किये हैं। अशुभ से सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड के सभी प्राणियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस इकाई का उद्देश्य इस बात को भी स्पष्ट करना है कि मानव जीवन में अनुभूत तथ्य के रुप में यह अशुभ दो रुपों में प्रचलित है– प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ। प्राकृतिक अशुभ के लिए मनुष्य को काफी हद तक उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है; जबकि नैतिक अशुभ के लिए मनुष्य पूर्णतः उत्तरदायी है। जब मनुष्य अपने स्वतंत्र संकल्प का दुरूपयोग कर दुराचार करता है तो नैतिक अशुभ उत्पन्न होता है। प्रायः सभी धर्म दार्शनिक अशुभ को 'सत्य शिवं सुन्दरम' के प्रतिकूल अवधारणा के रूप में वर्णित किया है।

13.1 प्रस्तावना

अशुभ की समस्या ईश्वरवादी संकल्पना की उपज है। ईश्वरवादी के लिए ईश्वर शुभ, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है और ऐसी अवस्था में उसके लिए अशुभ की समस्या के समाधान में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अशुभ की समस्या के लिए निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

1. ईश्वर ही सत्य है (यदि ईश्वर ही केवल सत्य न हों, तो अशुभ की समस्या उद्‌भुत ही नहीं होगी)
2. ईश्वर सर्वज्ञ है (यदि ईश्वर को यह पूर्वज्ञान था कि विश्व में मानव द्वारा अनीति होगी; तो उसने ऐसे मानव की विश्व में क्यों उत्पत्ति की)
3. विश्व में अशुभ एक यथार्थ तथ्य है (यदि अशुभ होता ही नही ंतो अशुभ की समस्या उठती ही नहीं)
4. ईश्वर परम शुभ है (ऐसी स्थिति में विश्व में अशुभ को ही नहीं होना चाहिए)
5. ईश्वर पूर्ण है (पूर्ण ईश्वर ने अपूर्ण सृष्टि की रचना ही क्योंकि, जिसके कारण विश्व में अशुभ है)

6. ईश्वर सर्वशक्तिमान है (यदि ऐसा है तो ईश्वर इस विश्व में विद्यमान अशुभ को क्यों नहीं दूर कर पाता है)

यदि ईश्वरवादी संकल्पना के स्वीकार करने पर विभिन्न प्रकार के उठने वाले प्रश्नों का कोई समुचित समाधान निकलता है; तो धर्मपरायण व्यक्ति की ईश्वर में आस्था दृढ़ होगी और उपास्यता की दृष्टि से वह ईश्वर को उपासना का विषय भी बनाएगा। परन्तु अशुभ केक उपस्थिति के कारण धर्म परायण व्यक्ति के ईश्वरवादी संकल्पना के प्रति आस्था को किसी न किसी न रूप में ठेस पहुँचती है।

13.2 अशुभ का अर्थ और वर्गीकरण

मनुष्य अपने जीवन से 'अशुभ' को दूर रखना चाहता है और 'शुभ' की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसी स्थिति में 'अशुभ' का अर्थ 'शुभ का अभाव' कहा जा सकता है। परन्तु अशुभ को शुभ का अभाव कह देने मात्र से अशुभ का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है वास्तविकता यह है कि अशुभ मानव जीवन में अनुभूत वह सत्य है जो विश्व के सभी प्राणियों के लिए दुःखद, अकल्याणकारी या अशिव एवं अमंगल है। अतएव अशुभ का अर्थ बुराई हैं विश्व में विद्यमान विविध प्रकार के कष्ट, पीड़ा, यातना, विपत्ति, संघर्ष, अन्याय, पाप तथा दुराचार अशुभ के रुप है और इसके कारण विश्व के सभी प्राणियों को शारीरिक या मानसिक या दोनों ही प्रकार का दुःख मिलता है। अशुभ्ज्ञ मनुष्य के दुःखों का मूल कारण है। कोई भी मनुष्य दुःख को अपने जीवन में स्थान नही देना चाहता है। सभी मनुष्य सुख, सत्य, सौन्दर्य, अच्छाई तथा अन्य ऐसे लौकिक साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं जो केवल शुभ का अनुभव किसी न किसी रुप में कराते हैं। इसीलिए प्रो0 डी0एम0 एडवर्ड ने अपनी पुस्तक 'The Philosophy of Religion' में अशुभ को परम मूल्यों का विरोधी बताया है। उन्होंने कहा है कि– ''विश्व में कम से कम चार प्रकार के अशुभ निहित है– दुःख, असत्य, कुरुपता और पाप। इन्हें चार परम मूल्यों सुख, सत्य, सौन्दर्य और शुभ का प्रबल विरोधी माना जा सकता हैं।''

13.3 भारतीय दर्शन में शुभ की अवधारणा के विपरीत अशुभ की अवधारणा

भारतीय दर्शन में सत्य, शिव और सुन्दर को परम मूल्य माना गया है और यह स्वीकार किया गया है कि ये मूल्य ही मानव जीवन में शुभ के प्रमुख स्रोत हैं। अतएव

सत्य, शिव एवं सुन्दर ही परमशुभ हैं और इसके विपरीत असत्य, अशिव और असुन्दर (कुरुप) ही अशुभ है। भारतीय दर्शन में इस प्रकार के अशुभ को सर्वत्र दुःख के रुप में ही व्याप्त किया गया है।

13.4 विश्व में अशुभ की सर्वव्यापकता

विश्व में अशुभ सर्वत्र व्याप्त है। यदि विश्व में अशुभ न होता, तो मनुष्य का जीवन दुःखरहित एवं सुखी होता है। विश्व में ऐसा कोई प्राणी नहीं जो कभी न कभी कम या अधिक मात्रा में दुःख का अनुभव न करता हो। विश्व के सभी मनुष्य एवं अन्य जीव–जन्तु ऑधी, तुफान, बाढ़, भूकम्प, सूखा, अकाल महामारी आदि प्राकृतिक विपदाओं और अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों एवं अपने प्रिय जनों के असामायिक मृत्यु के कारण प्राप्त होने वाले दुःख के रूप में अशुभ का अनुभव करते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त कुछ दुष्ट मनुष्यों के कर्मों से भी अशुभ उत्पन्न होता है। ऐसा 'अशुभ' मनुष्य के दुराचरण का साक्षात् प्रतिफल है; जैसे चोरी, डैकेती, हिंसा, धोखा इत्यादि। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'विश्व में अशुभ है' यह कठोर यथार्थ या सत्य है।

13.5 दुःख के रूप में अशुभ

अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिकों ने अशुभ को दुःख के रुप में ग्रहण करते हुए मानव जीवन में तथा अन्य प्राणियों के जीवन में (अशुभ) इसकी यथार्थ सत्ता को पूर्णतः स्वीकार किया है। अतएव अशुभ के विषय में यह कहा जा सकता है कि अशुभ कोई रहस्यमयी वस्तु न होकर मानवीय दुराचरण और शारीरिक या मानसिक दुःख के रुप में समस्त प्राणियों के अनुभव का साक्षात् विषय है– इस विश्व में सर्वत्र दुःख है और दुःख की इसी व्यापकता के कारण महात्मा बुद्ध यह कहते हैं कि 'सर्व दुखं'। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस विश्व में असंख्य प्राणी रोते–बिलखते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं। मानव जीवन के संघर्ष के क्रम में उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। प्रसिद्ध इंगलिश कवि टेनीसन के अनुसार– प्रकृति के नख और दाँत रक्तरंजित हैं। जर्मन दार्शनिक शॉपेन हावर ने विश्व को बुराईयों से परिपूर्ण माना है। उनके विचार में, हम अतृप्त आकांक्षाओं और इच्छाओं की लाश लिए अवसाद की काली रात में जिन्दगी का भार ढोते रहते हैं। यह निकृष्टतम जगत है। जीवन एक धोखा है।

13.6 अशुभ का वर्गीकरण

धर्म दार्शनिकों ने 'अशुभ' के स्वरुप को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए दो वर्गो में विभाजित किया है–

1. प्राकृतिक अशुभ (Natural Evil) एवं
2. नैतिक अशुभ (Moral Evil)

13.7 प्राकृतिक अशुभ

प्राकृतिक अशुभ उस अशुभ को कहते हैं, जिसका उद्‌गम प्रकृति से होता है। विभिन्न प्रकर की प्राकृतिक आपदाओं तथा अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों के फलस्वरुप उत्पन्न उस दुःख को प्राकृतिक अशुभ की संज्ञा दी जाती है जिसके मूल कारणों पर प्राणियों का कोई नियंत्रण नहीं है और जिनके लिए वे प्राणी स्वंय उत्तरदायी नही हैं। प्राकृतिक अशुभ प्रकृति प्रदत्त है और इसका मूल कारण स्वयं प्रकृति में ही निही है। इसीलिए टेनिसन ने कहा है कि प्राकृतिक अशुभ को व्यक्त करते हुए कहा है कि– प्रकृति के नख और दाँत रक्त रंजित हैं। जे0एस0 मिल ने प्राकृतिक अशुभ को व्यक्त करते हुए कहा है कि– ''लगभग वे सभी कार्य जिनके लिए मनुष्य को उत्तरदायी ठहराकर कारावास और मृत्यु दण्ड दिया जाता है, प्रकृति उन्हीं कार्यो को प्रतिदिन करती रहती है।''

प्राकृतिक अशुभ का मूल कारण प्रकृति स्वंय हैं प्राकृतिक अशुभ से सृष्टि के सभी प्राणियों को दुःख होता है। प्राकृति अशुभ से ज्ञानी एवं मूर्ख दोनों को ही दुःख मिलता है। ऑधी, तुफान, बाढ़, भूकम्प, सूखा, अकाल आदि प्राकृतिक अशुभ के ही रुप हैं; जिन पर न तो मनुष्य का कोई नियंत्रण है और जिनके लिए मनुष्य पूर्णतया उत्तरादायी नहीं कहा जा सकता है। प्राकृतिक अशुभ की तीव्रता, व्यापकता एवं गहनता से व्यथित होकर किसी ने कहा था कि– ''सब कुछ असत्य है, अन्धड़ के पीछे कलह है या जीवन जीने योग्य नहीं है।''

प्राकृतिक अशुभ का सभी प्राणियों पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन दुःख का अनुभव करने वाले प्राणियों की संख्या, दुःख की तीव्रता और अवधि के आधार पर किया

जाता है। प्राकृतिक अशुभ की माना इन तीन तत्वों के आधार पर कम या अधिक हो सकती है। प्राकृतिक अशुभ से उत्पन्न दुःख की तीव्रता और अवधि का प्रत्येक प्राणी पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह दुःख जितना तीव्र एवं दीर्घकालिक होता है, प्राणी में जीवि रहने की नैसर्गिक इच्छा उतनी ही कम होती है। प्रायः प्राकृतिक अशुभ के रुप में प्राप्त दुःख से मुक्त होने के लिए आत्महत्या जैसा प्रयास करता है और सम्पूर्ण नैतिक मूल्यों और आदर्शो का परित्याग भी करने को उद्यत रहता है।

13.8 नैतिक अशुभ

मानवीय दुराचरण के फलस्वरुप उत्पन्न होने वाले अशुभ को 'नैतिक अशुभ' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। नैतिक अशुभ का अस्तित्व मानव जगत तक ही सीमित है और इसके लिए मनुष्य स्वंय उत्तरादायी है। नैतिक अशुभ मनुष्य के संकल्प स्वांत्र्य के दुरुपयोग का ही परिणाम है। इसलिए नैतिक अशुभ का दुष्प्रभाव भी मनुष्य पर ही अधिक पड़ता है। जब मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध की भावन, स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा, लालच, वासना आदि दुर्गुणों से प्रेरित होकर स्वेच्छया अपने कर्मों का सम्पादन करता है; तब मानवीय दुराचरण से उद्भुत अशुभ नैतिक अशुभ कहलाता है। मानव द्वारा किया जाने वाला सभी प्रकार का भ्रष्ट आचरण 'नैतिक अशुभ' के ही अन्तर्गत आता है। ईश्वरवादी इसी 'नैतिक अशुभ' को 'पाप' की संज्ञा देते हैं, जिसका अर्थ है जानबूझकर ईश्वरीय आदेशों का उल्लंघन करना है। नैतिक अशुभ के परिणामस्वरुप समाज में व्यापक रुप से दुःख की उत्पत्ति होती है; और अन्य प्राणियों को भी बहुत कष्ट भोगना पड़ता है।

13.9 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ में भेद

प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ एक दूसरे से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। प्राकृतिक अशुभ प्रकृति प्रदत्त और नैतिक अशुभ मनुष्य के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का प्रतिफल है। इससे यह निहितार्थ निकलता है कि प्राकृतिक अशुभ को नियंत्रित करना मनुष्य के वश में नहीं है, किन्तु नैतिक अशुभ मनुष्य के नियंत्रण में है और यदि मनुष्य चाहे तो नैतिक अशुभ से मुक्त हो सकता है। नैतिक अशुभ का मूलकारण बाह्य प्रकृति में न होकर मनुष्य के अपने

स्वभाव में ही अन्तनिर्हीत है। प्राकृतिक अशुभ की अपेक्षा नैतिक अशुभ सम्पूर्ण मानव जाति के लिए कहीं अधिक घातक है; क्योंकि मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति और विभिन्न देशों के पारस्परिक भय एवं अविश्वास के फलस्वरुप शास्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता, मनुष्य में कर्त्तव्य उपेक्षा एवं लाभ–लालच के कारण सम्पूर्ण मानव समाज संकट से ग्रसित है।

13.10 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ में घनिष्ट सम्बन्ध

यद्यपि प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ एक दूसरे से भिन्न है; फिर भी इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ को उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ– बाढ़, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरुप प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए अत्यधिक चिन्तित रहने के कारण दूसरों के प्रति पूर्णतः उदासीन हो सकता है और उनके हित को भारी क्षति पहुँचा सकता है। ऐसे आपदकाल में मनुष्य के लिए अपने नैतिक मूल्यों एवं आदर्शो के अनुरुप आचरण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वह केवल अपने और अपने परिवार के जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशी हो जाता है और स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, उदारता आदि उसकी समस्त सद्वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को उत्पन्न करता है।

नैतिक अशुभ भी कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ जब मनुष्य धन–लिप्सा से प्रेरित होकर उद्योगीकरण के लिए वनों को समाप्त करता है तो उसके परिणामस्वरुप भू–रक्षण तथा बाढ़ की संभावना बढ़ जाती है। सम्पूर्ण विश्व में औद्योगिकीकरण की बलवती हुई प्रवृत्ति के फलस्वरुप जल, वायु एवं वातावरण आज इतना अधिक प्रदूषित हो चुका है कि यह अनेक प्रकार के रोगों तथा अनेक प्राकृतिक आपदाओं का कारण बनता जा रहा है।

13.11 निष्कर्ष

प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ के अतिरिक्त कुछ धर्म दार्शनिकों ने बौद्धिक अशुभ, तात्विक अशुभ, सामाजिक अशुभ एवं सौन्दर्य सम्बन्धी अशुभ का उल्लेख किया है। कुछ दार्शनिकों ने सत्य ज्ञान को शुभ माना है। ऐसी स्थिति में अज्ञान या मिथ्या ज्ञान 'अशुभ' है। इसी प्रकार कुछ तत्वों की रचना को शुभ माना है और यदि कुछ तत्वों की रचना में

दोष है या विसंगति है तो उसे अशुभ कहा जाता है। समाज दार्शनिकों ने समाज में सुख, शान्ति, एकता अखण्डता आदि को शुभ मानते हैं। इसी क्रम में यदि समाज में दुःख, अशान्ति, भेदभाव, शोषण, अन्याय एवं दरिद्रता आदि है इसे अशुभ माना जाएगा। सौन्दर्य की दृष्टि किसी वस्तु की सुन्दर रचना 'शुभ' है; तो किसी वस्तु का कुरुप होना अशुभ है।

13.12 सारांश

धर्म परायण व्यक्ति द्वारा ईश्वरवादी संकल्पना को स्वीकार करने के पश्चात उसके समक्ष अशुभ की समस्या बहुत ही जटिल समस्या के रूप में उभरकर आती हैं प्रो0 डी0एम0 एडवर्ड ने विश्व में पाये जाने वाले अशुभ को दुःख, असत्य, कुरुपता और पाप के रुप में वर्णित किया है। भारतीय परम्परा में ईश्वरवाद में यह माना गया है कि ईश्वर सत्यं शिवं सुन्दरम के रुप में समग्र सृष्टि में विद्यमान है। यदि ईश्वर सत्यं शिवं और सुन्दरम है तो इसका विपरीत असत्यं, अशिवं और असुन्दरम को अशुभ के रूप में जाना जा सकता है कि विश्व में अशुभ सर्वत्र व्याप्त है। प्रायः अधिकांश धर्मपरायण व्यक्ति अशुभ को दुःख के ही रुप में लेते है। अशुभ के भी दो रुप प्रचलित हैं– प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ। कुछ धर्मपरायण व्यक्ति एवं धर्म दार्शनिक प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ में स्वरुपतः भेद मानते है; किन्तु अधिकांश धर्म दार्शनिक प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ को एक दूसरे का घनिष्ठ रुप में सम्बन्धित मानते हैं। यद्यपि कुछ धर्म दार्शनिकों ने प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ के अतिरिक्त भी अशुभ के अन्य कई भेद बताये हैं; किन्तु अशुभ के जितने भी भेद बताये गये है; वे सभी प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

13.13 प्रश्न बोध

प्रश्न–1 अशुभ का अर्थ स्पष्ट कीजिए और अशुभ के प्रचलित रूपों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न–2 प्राकृतिक और नैतिक अशुभ के भेद को स्पष्ट कीजिए और यह बताइए कि क्या प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए आवश्यक है।

13.14 उपयोगी पुस्तकें

4. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
5. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा

6. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–14

अशुभ की समस्या का स्वरुप

इकाई की रुपरेखा–

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 अशुभ की समस्या का स्वरुप

14.3 अनेकश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

14.4 पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक परम्परा में अशुभ का स्वरुप

14.5 द्वैतवादी परम्परा में अशुभ का स्वरुप

14.6 सर्वेश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

14.7 अनीश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

14.8 ईश्वरवाद में अशुभ का स्वरुप

14.9 अशुभ के सम्बन्ध में डेविड ह्यूम का मत

14.10 अशुभ के स्वरुप के सम्बन्ध में समकालीन दार्शनिक पैटर्सन का मत

14.11 अशुभ के स्वरुप के सम्बन्ध में समकालीन दार्शनिक जे0 एल मैकी का मत

14.12 निष्कर्ष

14.13 सारांश

14.14 प्रश्न बोध

14.15 उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

अशुभ की समस्या के स्वरुप इकाई में इस बात पर बल दिया गया है कि अशुभ की समस्या क्यों उद्भूत हुई और कब उद्भूत होती है? यदि धर्म के ऐतिहासिक विकास के क्रम पर दृष्टि डाली जाए; तो यह स्पष्ट होता है कि धर्म के ऐतिहासिक विकास क्रम में आदिम धर्म में अशुभ जैसी कोई समस्या विचार का विषय ही नहीं थी। आदिम मानव का जीवन इतना कठिन था कि वह अशुभ जैसी समस्या पर सोचने की स्थिति में ही नहीं था। वह केवल अपने नित्य–प्रतिदिन जीवन में आने वाली कठिनाईयों से निकलने के मार्ग को खोजने तथा नित्य जीवन के कठिनाइयो से बचने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा देता था। अशुभ की समस्या की उत्पत्ति मानव के धार्मिक रुप से विकसित होने पर ही उत्पन्न होती है। ऐतिहासिक रुप से यदि धर्म के विकास पर दृष्टि डाली जाए तो विकास क्रम में एक ऐसा पड़ाव आता है; जब धर्म परायण व्यक्ति ईश्वर के सम्बन्ध में एकेश्वरवाद की संकल्पना के विकास के पश्चात् इस बात पर विचार किया जाने लगा कि यदि इस सृष्टि का रचयिता ईश्वर है; तो उसके द्वारा रचित इस सृष्टि में अशुभ क्यों है? विश्व में अशुभ की उपस्थिति ईश्वर के प्रति धर्म परायण व्यक्ति की आस्था पर किसी न किसी रुप में कुठाराघात है।

14.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य परम्परा में ईश्वरवादी संकल्पना के विकास के पश्चात् अशुभ की समस्या एक प्रमुख समस्या बनकर उभरती है। सर्वेश्वरवादी धर्म दार्शनिकों के लिए अशुभ की कोई समस्या ही नही थी। सर्वेश्वरवाद के साथ ही निरीश्वरवादियों के समक्ष भी अशुभ कोई समस्या नही थी। ईश्वरवादी संकल्पना को स्वीकार करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्म दार्शनिकों के समक्ष है; क्योंकि वे ईश्वर को एक पूर्ण, अनन्त एवं व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता मानते है। ईश्वरवादी यह मानते हैं कि ईश्वर विश्व का स्रष्टा है और विश्व उसकी सृष्टि है। ईश्वरवाद में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, शुभ, दयालु, प्रेम का प्रतीक एवं करुणा का आगार कहा गया है।

यही कारण है कि ईश्वरवादियों के ईश्वर को लेकर यह प्रश्न उठाया जाता है यदि ईश्वर पूर्ण, शुभ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है; तो उसके द्वारा रचित विश्व में अशुभ क्यों है? विश्व में दुःख, दैन्यता, अपूर्णता, अभाव, पाप इत्यादि रुप में सर्वत्र अशुभ पाया जाता है। इस प्रकार विश्व में विद्यमान अशुभ धर्म परायण व्यक्ति के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों को जन्म देता है; जो कि धर्म परायण व्यक्ति को ईश्वर के प्रति आस्था पर भी प्रश्न चिह्न लगाता है और उपास्य उपासक सम्बन्ध को प्रभावित करता है।

14.2 अशुभ की समस्या का स्वरुप

अशुभ की समस्या का ऐतिहासिक परिशीलन करने पर यह स्पष्ट होता है कि आदिम युग में अशुभ कोई समस्या नहीं था; क्योंकि तत्कालीन समाज का जीवन इतना कठिन था कि वे व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में ही संलिप्त रहते थे तथा उनके पास सैद्धान्तिक समस्याओं के ऊपर विचार करने का अवकाश ही नहीं था। उस समय के धर्म पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि जिस समय प्राणवाद (Spiritism) में लोगों का मानना था कि विश्व में नहीं था। प्राणवाद में विश्वास करने वाले लोगों का मानना था कि विश्व में अनेक जीव हैं जिनमें से कुछ जीव दयालु और अच्छे हैं जबकि कुछ अन्य दुष्ट एवं निर्दयी हैं। अच्छे जीव लोगों का शुभ करते हैं और बुरे जीव लोगों का अशुभ करते थे। कालान्तर में टोटमवाद (Totemism), फीटिशवाद (Fetishism) तथा पूर्वज–अराधना में विश्वास करने वालों के समक्ष 'अशुभ' थे जिनमें कुछ जीव अच्छे स्वभाव वाले थे और कुछ जीव दुष्ट स्वभाव वाले थे। अतएव अच्छे स्वभाव वाले जीव 'शुभ' की उत्पत्ति के कारण थे और बुरे स्वभाव वाले जीव अशुभ के उत्पत्ति के कारण होते थे।

14.3 अनेकश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

धार्मिक चिन्तन के विकास–क्रम में अनेकेश्वरवादी विचारधारा (Polytheistic Religious idea) का विकास हुआ। इस विचारधारा के लोग कुछ दुष्ट देवताओं को ही अशुभ के उत्पत्ति का कारण मानते थे। उनका विश्वास था कि विश्व में अनेक देवता हैं जो प्राणियों को दुःख और विपदा प्रदान करते हैं।

14.4 पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक परम्परा में अशुभ का स्वरुप

पाश्चात्य विचारधारा में कुछ ऐसे भी विचारक हैं, जो अशुभ की व्याख्या दो निरपेक्ष मूल तत्वों (Absolute Ultimate Reality) या दो सापेक्ष मूल तत्वों (Relative Ultimate Reality) की सहायता से करते हैं। पाश्चात्य ग्रीक दर्शन के महान दार्शनिक प्लेटों ने इस विश्व में व्याप्त 'अशुभ' या 'बुराईयो' की व्याख्या सत्ता और असत्ता के बीच भेद करके किया है। प्लेटो ने सत्ता को पूर्ण एवं शुभो का उद्‌गम स्रोत माना है तथा असत्ता को जड़ मानते हुए उसे समस्त बुराईयों या अशुभ का कारण माना है। प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने भी जड़ द्रव्य (Matter) एवं आकार (Form) में भेद करके 'अशुभ' को स्पष्ट रुप से निरूपित करने का प्रयास किया। अरस्तु के अनुसार विश्व अपने विकास क्रम में ज्यो–ज्यो आकार की ओर अग्रसर होता है, त्यों त्यों विश्व में बुराईयाँ या अशुभ घटते हैं। इस प्रकार अरस्तु ने सासांरिक अशुभ का कारण जड़ द्रव्य को माना है।

14.5 द्वैतवादी परम्परा में अशुभ का स्वरुप

पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के कुछ ऐसे भी धर्म दार्शनिक हैं जो एकेश्वरवादी (Monotheist) होते हुए भी दो सापेक्ष मूल तत्वों (Relative Ultimate Reality) की सहायता से 'शुभ' एवं 'अशुभ' को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, पारसी धर्म के संस्थापक जरथ्रुस्त्र ने अहुरमज्दा (Ahuramanda) एवं अहरिमन सर्वज्ञ तथा अन्य गुणों से सम्पन्न होने के कारण पूर्णतः शुभ है तथा दूसरा ईश्वर अहरिमान विश्व में विद्यमान अशुभ का मूल कारण है। पारसी धर्म में अहुरमज्दा की तुलना प्रकाश से ताा अहरिमान की तुलना अन्धकार से की गयी है।

14.6 सर्वेश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

सर्वेश्वरीवादी (Pantheism) विचारधारा में अशुभ की समस्या का विकास नहीं मिलता है, क्योंकि सर्वेश्वरवाद में ईश्वर एवं विश्व अभिन्न है। ईश्वर एवं विश्व में तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण सर्वेश्वरवाद 'शुभ' एवं 'अशुभ' में भेद नही ंकर पाते हैं, क्योंकि विश्व की प्रत्येक वस्तु ईश्वर का ही प्रकाशित रुप है ऐसी स्थिति में विश्व ंमें या तो शुभ ही शुभ है या अशुभ ही अशुभ है। कोई भी सर्वेश्वरवादी अशुभ को क्यों मान्यता देगा। अतएव सर्वेश्वरवाद में अशुभ कोई समस्या नहीं है।

14.7 अनीश्वरवादी विचारधारा में अशुभ का स्वरुप

सर्वेश्वरवादी विचारधारा की ही भॉति अनीश्वादी विचारधारा में भी अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं है। अनीश्वरवाद के अनुसार ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर में विश्वास करना, एक भूल है। कुछ अनीश्वरवादियों का यह कहना है कि विश्व में न तो शुभ है और न ही अशुभ। प्राकृतिक घटनाओं के लिए शुभ एवं अशुभ दोनों ही आकस्मिक गुण हैं। एक ही वस्तु दृष्टिकोण से शुभ तथा बाढ़ के दृष्टिकोण से अशुभ है। अतएव अनीश्वादियों के अनुसार अशुभ की समस्या गलत है।

14.8 ईश्वरवाद में अशुभ का स्वरुप

ईश्वरवाद (Theism) में विश्वास करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों के समक्ष 'अशुभ' एक प्रमुख समस्या बनकर उपस्थित होता है। ईश्वरवादी विचारधारा में ईश्वर को एक अनन्त एवं पूर्ण व्यक्तित्वसम्पन्न सत्ता माना गया है। ईश्वर विश्व में व्याप्त (Immanent) और विश्वातीत (Transcendent) दोनों है। ईश्वर विश्व का स्रष्टा है और विश्व उसकी सृष्टि है। ईश्वरवाद में ईश्वर को सर्वशक्तिमान (Ommipotent), शुभ (Good) तथा दयालु (Benevolent) माना गया है। ईश्वरवादियों के ईश्वर को लेकर प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं शुभ सत्ता है; तो उसके द्वारा सर्जित विश्व में अशुभ क्यों है? विश्व पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट रुप से दिखायी पड़ता है कि विश्व में दैत्य, अपूर्णता, अभाव इत्यादि अशुभ सर्वत्र है। अतएव ईश्वरवादियों के समक्ष यह प्रश्न प्रमुख रुप से उभरकर आता है कि क्यों एक सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं शुभ ईश्वर ने एक ऐसे विश्व की रचना नहीं की जो पूर्णतः शुभ हो। विश्व में 'अशुभ' होने का यह अर्थ होता है 'कि या तो ईश्वर ने जानबूझकर अशुभ का निर्माण किया है या उसने अशुभ को दूर करना चाहा था, किन्तु अशुभ को दूर करने में वह असर्मथ था। यदि ईश्वर ने जानबूझकर विश्व में अशुभ का निर्माण किया है, तो ऐसा ईश्वर दयालु और शुभ नहीं हो सकता और यदि उसने अशुभ को हटाना चाहा था, किन्तु हटा नही पाया, तो वह सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण नहीं है। सर्वप्रथम ग्रीक दार्शनिक एपीक्यूरस ने अशुभ की इस जटिल समस्या को निम्नलिखत उभयतः पाश के रुप में व्यक्त किया–

1. क्या ईश्वर अशुभ को समाप्त करना चाहता है; किन्तु असमर्थ है? यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण नहीं है। एवं

2. क्या ईश्वर अशुभ का समाप्त कर सकता है, किन्तु वह समाप्त नहीं करना चाहता है। यदि इस स्थिति को स्वीकार किया जाए; तो ईश्वर शुभ एवं दयालु नहीं रह जाता है।

14.9 अशुभ के सम्बन्ध में डेविड ह्यूम का मत

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने एपीक्यूरस के उपर्युक्त उभयतः पाश को अपनी प्रसिद्ध कृति Dialogues Concerning Natural Religion में ईश्वरवाद के खण्डन के लिए प्रयुक्त करते हुए यह कहा है कि अशुभ से परिपूर्ण इस विश्व का रचयिता सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतः शुभ नहीं हो सकता है। ह्यूम ने अपनी बात को एक उभयतः पाश में इस प्रकार व्यक्त किया है– ''यदि अशुभ ईश्वर के संकल्प के अनुसार है; तो ईश्वर शुभ नहीं है। यदि अशुभ किसी बाहरी तत्व के कारण है; तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। या तो अशुभ ईश्वर के संकल्प के अनुसार है या ईश्वर से स्वतंत्र है। अतः या तो ईश्वर शुभ नहीं है। या सर्वशक्तिमान नहीं है।''

14.10 अशुभ के स्वरुप के सम्बन्ध में समकालीन दार्शनिक पैटर्सन का मत

प्रो0 पैटरसन (Prof. Patterson) ने 'An Introduction to Philosophy of Religion' नामक अपनी पुस्तक में अशुभ का ईश्वरवाद के साथ जो विरोधाभास है। उसे निम्नलिखित उभयतोपाश में व्यक्त किया है– ''ईश्वर सृष्टि में अशुभ के अनाधिकार प्रवेश को रोक सकता है; किन्तु या तो वह ऐसा करना ही नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में वह शुभ हो ही नहीं सकता या वह ऐसा करने में असमर्थ है, जिस स्थिति में वह शुभ भले ही हो वह सर्वशक्तिमान नहीं है।''

14.11 अशुभ के स्वरुप के सम्बन्ध में समकालीन दार्शनिक जे0 एल मैकी का मत

समकालीन विचारकों में जे0एल0मैकी ने 1955 में 'Mind' में ''अशुभ की समस्या एक तार्किक समस्या है और इसके अन्तर्गत कई विश्वासों परस्पर समन्वय एवं सुसंगति स्थापित

करने की समस्या प्रमुख है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, ईश्वर परमशुभ है, विश्व में अशुभ है, इन तीनों कथनों का समन्वय करना कठिन है।''

जे0एल0 मैकी के पश्चात् अपने एक लेख में एच0 जे0 मैक्लास्की (H.J. Macloskey) ने अशुभ की समस्या को सरलतापूर्वक व्यक्त करते हुए लिखा– ''विश्व में अशुभ है; फिर भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाता है, जोकि सर्वशक्तिमान है। यह कैसे संभव है? निश्चित रुप से शुभ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर ने अशुभ से स्वतंत्र जगत की रचना की होती।''

14.12 निष्कर्ष

अशुभ की समस्या को 'Theodicy' भी कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– ईश्वर का औचित्य (Justification of God)। उल्लेखनीय बात यह है कि यह समस्या केवल धार्मिक व्यक्तियों से ही सम्बद्ध नहीं है, कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इस समस्या की उपस्थिति से त्रस्त रहता है। वस्तुतः धार्मिक व्यक्ति के लिए यह समस्या एक जटिल समस्या बन जाती है कि एक पूर्ण सर्वशक्तिमान शुभ और दयालु ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति को अशुभ की उपस्थिति के साथ किस समन्वित किया जाय।

14.13 सारांश

अशुभ की समस्या के स्वरुप पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि आदिम कालीन धर्म में अशुभ की कोई समस्या नहीं थी। तत्कालीन मानव समाज का धार्मिक जीवन इतना जटिल था कि वे अपने को केवल व्यावहारिक समस्याओं के समाधान तक सीमित रखते थे। अनेकेश्वरवादी विचारधारा में यह माने जाने लगा कि कुछ दुष्ट देवता है; जो प्राणियों को दुःख या विपदा प्रदान करते हैं। पाश्चात्य दर्शन के ग्रीक परम्परा में प्लेटो ने असत्ता को जड़ मानते हुए इसे समस्त बुराईयों या अशुभ का कारण माना है। अरस्तु सांसारिक अशुभ का कारण जड़ द्रव्य को माना है। सर्वेश्वरवादी विचारधारा में अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर ही व्याप्त है। इसलिए सब कुछ शुभ ही शुभ है। अनीश्वरवादी विचारधारा में यह माना गया है कि विश्व में न तो शुभ है और न ही अशुभ है। प्राकृतिक घटनाओं के लिए शुभ और अशुभ दोनों ही आकस्मिक गुण है। अशुभ की समस्या उन धर्म परायण व्यक्तियों के लिए एक प्रमुख रुप में उपस्थित करते हैं। अशुभ की समस्या पर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम अपने विचार व्यक्त करते हुए यह

कहा है कि विश्व में अशुभ की सत्ता को स्वीकार करने पर ईश्वरवाद की संकल्पना में ईश्वर के सर्वशक्तिमत्ता, शुभता और स्वतंत्रता को गुण को ही अस्वीकार करना पड़ेगा डेविड ह्यूम के मत का समर्थन करते हुए समकालीन दार्शनिक पैटर्सन भी दिखायी पड़ते हैं। जे0एल0मैकी ने यह सवाल उठाया है कि विश्व में अशुभ को मानने पर ईश्वर सर्वशक्तिमान है, ईश्वर परम शुभ है और विश्व में अशुभ है; इन तीनों कथनों में समन्वय का होना अनिवार्य है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि विश्व में अशुभ की विद्यमानता ईश्वर के दया, करुणा तथा प्रेम जैसे भावों का अशुभ से समन्वय की मॉग करती है।

14.14 प्रश्न बोध

1. अशुभ का स्वरुप स्पष्ट कीजिए। क्या अशुभ ईश्वरवाद के समक्ष एक प्रमुख चुनौती है।
2. अशुभ के स्वरुप और अर्थ को स्पष्ट करते हुए विश्व में अशुभ की विद्यमानता पर प्रकाश डालिए।

14.15 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–15

अशुभ की समस्या के कुछ समाधान

इकाई की रुपरेखा–

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है।

15.3 अशुभ की समस्या पर ईसाई धर्म और मिल का दृष्टिकोण

116 प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्ड मात्र है।

15.5 प्राकृतिक अशुभ सफलता में सहायक है।

15.6 अशुभ शुभ का मूल्य बढ़ाने के लिए अवश्य है।

15.7 अशुभ अपूर्ण शुभ है।

15.8 अशुभ अदृश्य अज्ञात जीवों के लिए आवश्यक है

15.9 अशुभ असत् या मिथ्या है।

15.10 अशुभ अनेक प्रत्ययों को सार्थक बनाता है।

15.11 अशुभ की समस्या से सम्बन्धित समाधान का मूल्यांकन

15.12 अशुभ की समस्या का मानवीय बुद्धि से परे होना

15.13 निष्कर्ष

15.14 सारांश

15.15 प्रश्न बोध

15.16 उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य अशुभ की समस्या पर अशुभ की विश्व में विद्यमानता और ईश्वरवादी संकल्पना के अनुरुप ईश्वर के अस्तित्व पर एक साथ विचार करना है। यदि ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है औ वह सर्वशक्तिमान, शुभ और पूर्ण सत्ता है; तो उसके द्वारा रचित विश्व में अशुभ नहीं होना चाहिए था। इसलिए प्रस्तुत इकाई में प्रमुख रुप से विचारणीय तथ्य यह है कि क्या विश्व में अनुभूत अशुभ और ईश्वरवाद के बीच परस्पर संगति और सामंज्जस्य संभव है? अशुभ और ईश्वरवाद के बीच इसी संगति एवं सामंज्जस्य हेतु विभिन्न दार्शनिकों ने अपने–अपने विचार व्यक्त किये है; जिसका इस इकाई में मूल्यांकन किया गया है और विभिन्न दार्शनिकों के तर्क की युक्तिसंगतता पर विचार किया गया है।

15.1 प्रस्तावना

अशुभ की समस्या के कुछ मुख्य समाधान–

विश्व में अशुभ किसी न किसी रुप में विद्यमान है और ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि अर्थात् विश्व का रचयिता है तथा वह सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं शुभ सत्ता है। यदि अशुभ की विद्यमानता और ईश्वर के अस्तित्व पर एक साथ विचार किया जाए; तो इन दोनों परस्पर संगति और सामन्जस्य नहीं हो पाता है। अनेक ऐसे दार्शनिक हैं, जिन लोगों ने ईश्वर के स्वरुप के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। अशुभ की समस्या ईश्वर के साथ अशुभ के पाये जाने वाले विरोध के कारण ही उत्पन्न होती है। अशुभ की समस्या का ईश्वरवादियों ने अपने–अपने ढंग से जो समाधान प्रस्तुत किया है; वह इस प्रकार है–

15.2 अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है।

1. कुछ दार्शनिकों ने अशुभ की समस्या के समाधान के लिए अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि– ''अशुभ मानव संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है (Evil is due to the misuse of human of free will)''

अशुभ को मानव के संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग मानने वाले दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि मानव ने संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग किया; जिसके फलस्वरुप अशुभ का विकास हुआ। ईसाई धर्म ने अशुभ को मानव संकल्प– स्वातंत्र्य का दुरुपयोग ही माना है। वे स्वतंत्रतापूर्वक किसी एक संकल्प को चुनने में समर्थ हो सकें अर्थात् या तो लोग ईश्वर को प्यार करे या घृणा का प्रदर्शन किया, जिसके फलस्वरुप संसार में अशुभ व्याप्त है। अतः अशुभ कारण मानव है, ईश्वर नहीं।

मिल ने भी अशुभ को मनुष्य के स्वतंत्रता के दुरुपयोग का ही परिणाम माना है। उन्होंने कहा है कि–''संसार में अशुभ मनुष्य के दृष्टता के कारण उत्पन्न होता है। मनुष्य स्वतंत्र है, जिसका तात्पर्य यह है कि वह 'शुभ' एवं 'अशुभ' दोनों कार्यो को करने के लिए स्वतंत्र है। इसलिए अशुभ मनुष्य के स्वतंत्रता का अनिवार्य परिणाम है।''

15.3 अशुभ की समस्या पर ईसाई धर्म और मिल का दृष्टिकोण

परन्तु अशुभ की समस्या के सम्बन्ध में ईसाई धर्म एवं मिल द्वार प्रस्तुत काण्ट एवं बोसांके प्रतिवाद करते हुए यह विचार व्यक्त किया है– ''ऐसा मानना कि ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य तो दिया, किन्तु उसके समक्ष दो विकल्प नहीं दिये। इस प्रकार का कथन असंगत प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर ने मानव को संकल्प स्वातंत्र्य के साथ ही दो विकल्प अवश्य रखें होंगे। इससे सिद्ध होता है कि अशुभ की सृष्टि ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प स्वांत्र्य प्रदाने करते समय ही की होगी। पुनश्च उपर्युक्त युक्ति ईश्वर की सर्वशक्तिमान का भी खण्डन करती है। क्या ईश्वर ऐसा नही ंकर सकता था कि मनुष्य अपने संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग न करता? यदि वह ऐसा करने में असमर्थ था, तो ईश्वर को सर्वशक्मिान कहना भ्रामक है। यदि यह मान लिया जाय कि अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है तो भी इससे केवल नैतिक अशुभ की ही व्याख्या होती है। प्राकृतिक अशुभ जैसे ऑधी, तूफान, बाढ़, अकाल, महामारी इत्यादि की व्याख्या नहीं हो पाती है। अतएव अशुभ की समस्या का दिया गया वह समाधान– 'अशुभ मानव संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है' संतोषप्रद समाधान नहीं प्रतीत होता है।

116 प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्ड मात्र है।

2. कुछ विचारकों ने अशुभ के समस्या के समाधान के लिए यह तर्क दिया है कि ''प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्डमात्र है। (Natural evil is punishment for moral evil)' इस प्रकार तर्क देने वाले विचारकों का कहना है कि ईश्वर ने मानव की रचना की है; किन्तु मानव ने ईश्वर के आदेशों का पालन नही ंकर सका। ईश्वर ने मानव की सृष्टि करने के पश्चात् उसके लिए कुछ नैतिक नियमों को भी बनाया था, जिन नियमों का मानव ने उल्लंघन किया, जिससे क्रोधित होकर ईश्वर ने मनुष्य को दण्डित करने की भावना से अशुभ का निर्माण किया। भूकम्प, बाढ़, भूख, अभाव आदि ईश्वर के द्वारा ही मनुष्य को कष्ट दिये जाने के लिए विश्व में प्रायोजित किये जाते हैं। महात्मा गॉधी ने इसी विचार का समर्थन करते हुए यह कहा था कि प्राकृतिक अशुभ छुआछू की भावना के कारण है और उन्होंने भारत में 1934 के भूकम्प को प्राकृतिक अशुभ के रुप में ईश्वर द्वार दण्डित करने के लिए प्रायोजित माना था। उनका यह कहना है कि 1934 का भूकम्प इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर हम लोगों से असंन्तुष्ट है।

परन्तु अशुभ की समस्या के समाधान के लिए दिया गया यह समाधान कि 'प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्डमात्र है' युक्तिसंगत नहीं लगता है। यदि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्डस्वरुप हे; तो प्राकृतिक अशुभ से केवल उन प्राणियों को ही क्षति पहुँचनी चाहिए थी; जिन्होंने नैतिक अशुभ को अपनाया है। इसके विपरीत प्राकृतिक अशुभ से उन व्यक्तियों को भी हानि होती है,जो निर्दोष और सत्यनिष्ठ है। प्रश्न यह उठता है कि यदि ईश्वर करुणा का महासागर तथा प्रेममय है; तो क्या वह अपने सन्तान को कष्ट दे सकता है? ऐसी स्थिति में प्राकृतिक अशुभ को नैतिक अशुभ के रुप में दण्ड कहना उचित नहीं प्रतीत होता है।

15.5 प्राकृतिक अशुभ सफलता में सहायक है।

3. 'प्राकृतिक अशुभ सफलता में सहायक है (Natural evil is conductive to sucess) इस रुप में अशुभ की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने वाला विचारकों का यह मानना है कि 'यदि विश्व में अशुभ न होता, तो विश्व का विकास अवरुद्ध हो जाता। अशुभ की महत्ता को स्वीकार करते हुए डॉ0 राधाकृष्णन ने कहा है कि–''विश्व अपूर्णता के अभाव में स्थिर है, रिक्त है, अप्रगतिशील है।'' वे तर्क देते हैं कि जब

एक बच्चा चलना सीखता है और अन्ततः वह चलना सीख लेता है। गिरना उसके चलने का साधक है। दुःख एवं अभाव की अनुभूतियाँ ही मानव को आत्मविकास के पथ पर ले जाती हैं। भूख की पीड़ा से त्रस्त होने पर मानव भोजन की खोज करता है और उसे ग्रहण करने के बाद सुख की अनुभूति करता है। अतएव मानव के प्रगति में अशुभ सहायता प्रदान करता है।

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि जॉन कीट्स ने संसार को आत्मनिर्माण की घाटी माना है। कीट्स का मानना है कि आत्मा के निर्माण के लिए दुःख एवं संकट के संसार का होना आवश्यक है यदि विश्व में 'अशुभ नहीं होते; तो कठिनाईयों को दूर करने का अवसर नहीं प्राप्त होता तथा हमारे चरित्र का विकास नहीं होता। प्रो0 ब्राइटमैन ने ठीक ही कहा है– ''चरित्र का विकास कठिनाईयों द्वारा ही सम्पन्न होता है। संवेदना का उद्भव दुःख से ही होता है।''

प्रो0 डी0एस0एडवर्ड ने ब्राइटमैन के विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि–''ऐसा स्वर्ग जहाँ कण्टकहीन गुलाब ही गुलाब हो, जहाँ दुःख–शोक रहित माधुर्य ही माधुर्य हो, मानव समुदाय को इतना सारहीन प्रतीत होता है कि वह किसी लम्बी अवधि तक शायद ही उसका आनन्द उपभोग कर सके।'' मैकग्रेगर का यह कहना है कि– अशुभ हमारे लिए प्रेरणा प्रदान करता है। अशुभ मानवीय जीवन के लिए वरदान स्वरुप है। अशुभ का अनुशासन एवं शिक्षा की दृष्टि से महत्व है। अतएव यह अच्छी बात है कि संसार में अशुभ है। अशुभ की समस्या के समाधान के लिए प्रस्तुत इस प्रकार के तर्क का समर्थन करने वाले ईश्वरवादियों ने यह माना है कि अशुभ शुभ के उद्भव का कारण है।

परन्तु अशुभ की समस्या के समाधान के लिए दिया गया उपर्युक्त मत भी उचित नहीं प्रतीत होता है। अशुभ के कारण कभी–कभी मानव का पतन होने लगता है। एक आदर्श व्यक्ति अशुभ के कारण क्रोधी पतित, उदासीन एवं निराशावादी हो जाता है। अतएव अशुभ व्यक्ति चरित्र में सर्वथा सुधार नहीं ला सकता। यह मानना युक्तिपूर्ण नहीं लगता है कि अशुभ से सर्वथा प्रेरणा मिलती है। अशुभ के प्रभाव के कारण मानव अमानवीयता का परिचय देने लगता है तथा अधार्मिक हो जाता है। प्रायः अशुभ से प्रभावित व्यक्ति को देखा गया है कि वह अध्यात्म से विमुख हो जाता है, निष्क्रियता को प्रश्रय देने लगता है। और इन सबका परिणाम यह होता है कि उसकी प्रगति रुक जाती है। पुनश्च यह भी प्रश्न उठता है कि ईश्वर दुःखों एवं कठिनाईयों जैसे साधन को शुभ की प्राप्ति के लिए क्यों

उत्पन्न करता है? क्या ईश्वर कोई सरल साधन को उत्पन्न करने में असमर्थ था। ऐसी स्थिति में ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहना भ्रामक है।

15.6 अशुभ शुभ का मूल्य बढ़ाने के लिए अवश्य है।

4. कुछ विचारकों ने अशुभ की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए यह तर्क दिया है कि– ''अशुभ, शुभ के मूल्य को बढ़ाने के लिए आवश्यक है।'' (Evil is needed as contrast to good) इस प्रकार का तर्क देने वाले विचारकों का यह कहना है कि विश्व में सुन्दरता का महत्व इसलिए है; क्योंकि संसार में कुरुपता भी है। प्रकाश का महत्व केवल इसलिए है; क्योंकि संसार में अन्धकार भी है। वास्तविकता यह है कि अशुभ शुभ के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु यदि शुभ होती तो संभवतः शुभ को परिभाषित करना एक दुरूह कार्य होता। अशुभ शुभ का विरोधी है और शुभ के महत्व को प्रकट करता है। अशुभ के अभाव में शुभ का मूल्यांकन करना कठिन ही नहीं असंभव सा जान पड़ता है। अतः अशुभ शुभ के मूल्यांकन का मानदण्ड है। प्रो0 सी0ई0 एम0 जोड अशुभ की समस्या के समाधान के लिए इस तर्क का समर्थन करते हुए कहा है कि– ''अशुभ शुभ का आवश्यक पूरक है। लोग कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य के लिए छाया आवश्यक है, उसी प्रकार शुभ के लिए अशुभ आवश्यक है।''

अशुभ शुभ का विरोधी है' इस समाधान को इसलिए भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है; क्योंकि यदि अशुभ का निर्माण शुभ का विरोध करने के लिए हुआ है, तो भी इतनी प्रचुर मात्रा में अशुभ के रहने की क्या आवश्कयता है? क्या सुख का विरोध करने के लिए इतने अधिक दुःख की आवश्यकता थी? क्या ज्ञान का विरोध करने के लिए इतने अधिक अज्ञान की आवश्यकता थी? प्रो0 ब्राइटमैन ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि– ''शुभ का विरोध करने के लिए विश्व में अत्यधिक अशुभ है। विरोध सम्बन्धी यह सिद्धान्त अशुभ का व्यापक मात्रा में विश्व में बने रहने का औचित्य नहीं सिद्ध कर सकता है।''

15.7 अशुभ अपूर्ण शुभ है।

5. अशुभ अपूर्ण शुभ है (Evil is incomplete good)– प्रत्ययवादी दार्शनिक हेगल का कहना है कि विश्व में विद्यमान अशुभ अपूर्ण शुभ है। किसी भी वस्तु का आंशिक रुप असंगत लगता है; किन्तु पूर्ण रुप आकर्षक प्रतीत होता है। अपूर्ण चित्र पर इधर–उधर पड़े रंगो की छाप कुरुप लगती है, किन्तु जब वही चित्र पूर्ण तैयार हो जाता है; तो सुन्दर एवं आकर्षक लगता है। जख्म ऑपरेशन के समय दर्द देता है, पर बाद में अच्छा हो जाने पर आराम देता है।

परन्तु अशुभ की समस्या का हेगल द्वारा प्रस्तुत समाधान उचित नहीं प्रतीत होता है। उनके विचार को तभी माना जा सकता है; जब हम यह मान लें कि भविष्य में पूर्ण शुभ ही होगा। इस प्रकार अपूर्णता से पूर्ण शुभ का अनुमान करना उचित नहीं जान पड़ता है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि अशुभ अपूर्ण शुभ है; तो यह कहना भी युक्तिसंगत है कि 'शुभ अपूर्ण अशुभ है'। एक व्यक्ति जो शराब का सेवन प्रारम्भ करता है, उसके लिए शराब प्रारम्भिक अवस्था में जहाँ तक उससे सुख मिलता है, शुभ दिखता है; किन्तु यह अपूर्ण सुख है। वही शराब सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से अशुभ प्रमाणित होती है। फिर यदि समष्टि स्वयं शुभ है; तो इसके अवयव अशुभ क्यों है? यदि हम समष्टि एवं उसके अवयव दोनों को शुभ मान लें तो कठिनाई होगी।

15.8 अशुभ अदृश्य अज्ञात जीवों के लिए आवश्यक है

6. कुछ दार्शनिकों का यह मानना है कि– 'अशुभ, अदृश्य अज्ञात जीवों के लिए आवश्यक है' (Evil is necessary for invisible and unknown creatures)– इस मत के समर्थक दार्शनिकों का यह मानना है कि संसार में कुछ ऐसे जीव हैं; जिनका निर्वाह अशुभ से होता है, जैसे भूत–प्रेत, राक्षस पिशाच इत्यादि अनेक जीव हैं, जिनका हमें प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है, अशुभ इन जीवों के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

   अशुभ की समस्या के समाधान के लिए दिया गया यह समाधान संतोषप्रद नही माना जा सकता है। यह एक विवेकशील मनुष्य को स्वीकार्य नहीं हो सकता; क्योंकि

इसका आधार केवल विश्वास है; तर्क बुद्धि नहीं। ऐसी स्थिति में यह समाधान भी विवेकशील व्यक्ति को संतुष्ट करने में असमर्थ है।

15.9 अशुभ असत् या मिथ्या है।

7. 'अशुभ असत् या मिथ्या है' (Evil is unreal)– भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्तियों तथा पाश्चात्य दर्शन में निरपेक्ष प्रत्ययवादियों और एकतत्ववादियों ने अशुभ की वास्तविक सत्त का ही खण्डन किया है तथा अशुभ को असत् या मिथ्या माना है। भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त मे ंतो ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता को माना गया है तथा बह्म से इतर जो कुछ भी है उसे असत् या मिथ्या कहा गया है। विवर्तवाद या प्रतिपादन करते हुए अद्वैत वेदान्ती केवल कारण की ही सत्ता को मानते हैं। कार्य का विवर्त या आभासमात्र मानते हैं। सम्पूर्ण विश्व अशुभ रुप, आभास मात्र एवं मिथ्या है। यह विश्व प्रपंचमात्र है। यह शुभ पर आरोपित अशुभ या मिथ्या है। पारमार्थिक दृष्टि से न तो जगत् की सत्ता है और न ही जगत में व्याप्त अशुभ की ही सत्ता है। अशुभ की सत्ता केवल आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। ब्रह्मात्मभाव की अनुभूति होने पर अशुभ के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है।

कुछ ईश्वरवादी भी अशुभ के वास्तविक अस्तित्व का निषेध करते हुए इस जगत में अशुभ की यथार्थ एवं वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार किया है तथा इसे भ्रममात्र माना है। इन दार्शनिकों का यह मानना है कि जिसे हम अशुभ कहते हैं; वह हमारे संकुचित दृष्टिकोण का द्योतक है, व्यापक दृष्टि से देखने पर वह शुभ सिद्ध होता है। एक समय जिसे हम अशुभ मानते हैं, कालान्तर में वही शुभ प्रतीत होता है। इसलिए ये ईश्वरवादी यह मानते हैं कि इस जगत में न केवल शुभ की ही वास्तविक एवं यथार्थ सत्ता है। ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'Appearance and Reality' में लिखा है– ''अन्ततः समस्त सत्ता, विचार तथा भावना एक ही हो जाते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक वस्तु पूर्णतया शुभ है।''

बुद्धिवादी दार्शनिक लाइबनित्ज ने भी इस विश्व को ईश्वर की सर्वोत्तम कृति माना है। उन्होंने भी अशुभ की वास्तविक सत्ता को नहीं स्वीकार किया है।

परन्तु अशुभ की समस्या का समाधान यह कहकर करना युक्तिसंगत नहीं लगता है कि–''अशुभ असत् या मिथ्या है या अशुभ की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है'' विश्व का प्रत्येक प्राणी अशुभ का अनुभव करता है और प्रतिदिन इससे प्रभावित होता है। अतएव अशुभ के वास्तविक सत्ता का निषेध कर देना मात्र अशुभ के समस्या का समाधन नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि अशुभ भ्रममात्र है और इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है तो भी यह प्रश्न उठता है कि विश्व के समस्त प्राणियों में यह व्यापक भ्रम किसने उत्पन्न किया? यदि ईश्वर ने यह भ्रम उत्पन् किया है तो वह इसके लिए उत्तरदायी है और यदि ईश्वर ने यह भ्रम उत्पन्न नहीं किया है; तो फिर कहाँ से उत्पन्न हुआ है और इसकी व्याख्या किस प्रकार की जाय? यदि ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं; तो इस भ्रम को दूर करना चाहिए।

अशुभ की समस्या के इस समाधान को यदि मान भी लिया जाय, तो इसके द्वारा नैतिक अशुभ की व्याख्या समुचित तरीके से नहीं की जा सकती। नैतिक अशुभ को केवल भ्रम या मिथ्या कहकर इसके स्वरुप एवं इसकी उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार यह सिद्धान्त दुःख निवारण विषकय मानवीय प्रयास का निरर्थक, अप्रासंगिक और अनावश्यक बना देता है। अशुभ या दुःख को भ्रममात्र मानने से मनुष्य के वे सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध होते हैं जो वह दुःख के निराकरण के लिए करता है। वस्तुतः समस्त प्रकार के दुःखों के प्रति मनुष्य को उदासीन करना न तो आपेक्षित है और न ही उचित प्रतीत होता है। अतएव अशुभ की समस्या को उपर्युक्त समाधान प्रतीत होता है। अतएव अशुभ की समस्या को उपर्युक्त समाधान भी तर्कसंगत एवं युक्तिपूर्ण नहीं लगता है।

15.10 अशुभ अनेक प्रत्ययों को सार्थक बनाता है।

8. 'अशुभ अनेक प्रत्ययों का सार्थक बनाता है' (Evil gives meaning to many concepts) कुछ विचारकों का यह कहना है कि अशुभ अनेक भावनाओं एवं विचारों को जीवित रखता है। प्रेम, दया, क्षमा, सहानुभूति इत्यादि प्रत्ययों की सार्थकता अशुभ के ही कारण है। यदि कोई रोगग्रस्त एवं असहाय न हो, तो सेवा–सुश्रुषा किसकी होगी। अतएव अशुभ के कारण ही बहुत से प्रत्यय मूल्यवान बन जाते हैं। लाइबनित्ज का कहना है कि– ''जिस प्रकार चित्रकला एवं संगीत में विरोधी रंगों

एवं ध्वनियों का प्रयोग उन्हें आकर्षक बनाने के लिए किया जाता है, उसी प्रकार जीवन को अधिक आकर्षक, व्यापक एवं महत्पूर्ण बनाने के लिए अशुभ भी आवश्यक है।

परन्तु उपर्युक्त समाधान भी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। यह तर्क कुछ ऐसा ही है जिस प्रकार कोई कहे की सुव्यवस्थित समाज के लिए पुलिस की व्यवस्था आवश्यक है और इस व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज में जो कुछ ऐसे भी लोग हैं जो समाज विरोधी कार्य करते हैं। जैसे–चोरी, डकैती, लूटमार; उन्हें पुलिस समाज विरोधी कार्यो से रोकें।

15.11 अशुभ की समस्या से सम्बन्धित समाधान का मूल्यांकन

अब तक अशुभ की समस्या के समाधान के लिए जितने भी प्रयास किये गये हैं, उनमें कोई न कोई कमी अवश्य परिलक्षित होती है। अशुभ की समस्या के समाधान में पायी जाने वाली कमियाँ को दृष्टि में रखते हुए कुछ ईश्वरवादी विचारक ईश्वर के परम्परागत स्वरुप में ही संशोधन करके इस समस्या का समाधान करने का प्रयास करते हैं। इन दार्शनिकों में विलियम जेम्स, एच0 रैशडल, ई0एस0 ब्राइटमैन,, पी0ए0 बर्टोकी, डी0ई0 ट्रब्लड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों ने ईश्वर को पूर्णतया शुभ माना है; किन्तु सर्वशक्तिमान नही माना है। इन विचारकों का यह कहना है कि ईश्वर की भी सीमा है और वह चाहते हुए भी कुछ कार्य करने में असमर्थ है। ईश्वर अशुभ का निराकरण करना चाहता है, किन्तु ऐसा करने में अक्षम है। इस प्रकार के विचारकों का यह कहना है कि ''यह विश्व ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है अर्थात् इससे सुन्दर विश्व की रचना ईश्वर नहीं कर सकता था। ऐसे विचाराकों का यह कहना है कि अशुभ के लिए ईश्वर को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का खण्डन करते हुए बर्टोकी ने लिखा है– ''मूलरुप से ईश्वर का हमारे अनुभव से भिन्न हैं ––––––उसके जीवन में भी चुनौती आनन्द तथा संघर्ष विद्यमान है।'' ट्रब्लड ने भी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार नहीं किया है। ट्रब्लड का कहना है कि– ''सर्वशक्तिमान शब्द बहुत ही अस्पष्ट है। यदि इसका अर्थ कुछ भी करने की क्षमता है, तो यह व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक है। ––––––––बहुत समय से यह माना जाता रहा है कि ईश्वर तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा सीमित है। ––––दुःख उत्पन्न करने वाली स्थितियों को जन्म दिये बिना ईश्वर भी परस्पर निर्भर व्यक्तियों के समुदाय की

रचना नही ंकर सकता। ———यदि सर्वशक्तिमान का अर्थ कुछ भी करने की क्षमता है; तो निश्चय ही ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है।

परन्तु उपर्यूक्त रुप में अशुभ की समस्या का समाधान देने के प्रयास में ईश्वरवादियों ने एक प्रकार से ईश्वरवाद का ही परित्याग कर दिया है; क्योंकि सर्वशक्तिमत्ता से रहित ईश्वर एक सीमित ईश्वर है तथा सीमित ईश्वर धर्मपरायण व्यक्ति के आस्था का विषय नहीं बन सकता। एफ0 एस0 फेटे तथा एफ0आर0 टेनैन्ट जैसे ईश्वरवादियों ने उपर्युक्त धारणा की तीव्र आलोचना की है। फेरे ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि– ''यदि हम ईश्वर की पूर्णता की कोई सीमा स्वीकार कर लेते हैं तो ईश्वर की सम्पूर्ण धारणा ही नष्ट हो जाती है।''

एफ0आर0टैनेन्ट का भी यह मानना है कि ''विश्व की बुराईयाँ ईश्वर की सीमा को प्रमाणित नहीं करती हैं।''

ईश्वर के सर्वशक्तिमत्ता के निषेध का एक और अर्थ यह भी निकल सकता है कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति भी है जो उसकी इच्छा के विपरीत कार्य करती है। इस प्रकार की शक्ति को स्वीकार करना एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद का खण्डन करना है। अतएव इस समाधान को अशुभ के समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं माना जा सकता है।

कुछ विचारकों ने अशुभ की समस्या का कोई उपर्युक्त समाधान न मिलने के कारण यह कहना आरम्भ कर दिया कि अशुभ की समस्या को समझना और इसका समाधान खोजना मानवीय शक्तियों के परे है; क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ, सीमित और ईश्वर के शाश्वत सत्य को समझने में असमर्थ है। मध्यकालीन पाश्चात्य दार्शनिक आगस्टाइन का भी यह मानना है कि– ''मानव अनेक समस्याओं को समझने में असमर्थ है, अशुभ की समस्या भी उन्हीं समस्याओं में से एक है।''

15.12 अशुभ की समस्या का मानवीय बुद्धि से परे होना

यद्यपि कुछ विचारकों का यह मानना है कि अशुभ की समस्या के समाधान के लिए किये जाने वाले समस्त मानवीय प्रयास निरर्थक है तथा इस समस्या को समझना मानवीय तर्कबुद्धि से परे है; किन्तु मानव अपनी तार्किक शक्ति के द्वारा स्पष्ट रुप से निम्न दो कथनों में तार्किक व्याघात देख सकता है–

(1) ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा परमशुभ या दयालु है और

(2) उसके द्वारा रचित विश्व में दुःख एवं दुराचार के रुप में अशुभ है।

उपर्युक्त दोनों कथनों के परस्पर विरोध के कारण ही अशुभ की समस्या उत्पन्न होती है। इसलिए यह कथन उचित नहीं है कि अशुभ की समस्या मानवीय तर्कबुद्धि के परे है।

15.13 निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अशुभ की समस्या ईश्वरवादियों के लिए गम्भीर समस्या है और इसके समाधान के लिए जितने भी प्रयास किये गये हैं उनमें कोई न कोई विसंगति अवश्य दिखायी पड़ती है। अतएव अशुभ को लेकर जो प्रमुख प्रश्न है वही अनुत्तरित बना रहता है कि अशुभ का निराकरण कैसे किया जाए और इस समस्या की व्याख्या कैसे की जाए? वास्तविकता यह है कि विश्व की रचना ही 'सत्य' एवं 'अनृत' के मिथुनीकरण से हुई है। इसलिए यदि विश्व है; तो उसमें अशुभ भी किसी न किसी रुप में अवश्य विद्यमान रहेगा। मनुष्य प्राकृतिक अशुभ के लिए न तो प्रत्यक्षतः उत्तरदायी है और न ही उस पर नियंत्रण ही रख सकता है; किन्तु इन प्राकृतिक आपदाओं के प्रति सचेत होकर इसके दुष्परिणामों को कम कर सकता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने आचरण और सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाकर नैतिक अशुभ का भी निराकरण कर सकता है और संकल्प की स्वतंत्रता के दुरुपयोग को भी नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दुःख के कारणों को जानकर उसका निराकरण करके दुःख से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है और ईश्वर से स्वतंत्र विश्व की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार की धारणा का विकास करके ही अशुभ की समस्या से बचा जा सकता है।

15.14 सारांश

विश्व में 'अशुभ' सभी के द्वारा अनुभूत किया जाने वाला तथ्य है। ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि का स्रष्टा है। ईश्वरवाद यह भी मानता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्ण एवं शुभ है। यदि विश्व में उपस्थित अशुभ और ईश्वरवादी संकल्पना पर एक साथ

विचार किया जाए तो इन दोनों के बीच परस्पर संगति एवं सामज्जस्य में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसी कठिनाई को अनेक दार्शनिकों ने अपने विभिन्न तर्को के द्वारा निराकृत करने का प्रयास करते हैं। अशुभ की समस्या के समाधान के लिए अब तक निम्नलिखित तर्क दिए गये हैं–

1. अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है।
2. प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्ड मात्र है।
3. प्राकृतिक अशुभ सफलता में सहायक है।
4. अशुभ शुभ का मूल्य बढ़ाने के लिए अवश्य है।
5. अशुभ अपूर्ण शुभ है।
6. अशुभ अदृश्य अज्ञात जीवों के लिए आवश्यक है
7. अशुभ असत् या मिथ्या है।
8. अशुभ अनेक प्रत्ययों को सार्थक बनाता है।

उपर्युक्त तर्क के द्वारा विश्व में अशुभ की विद्यमानता और ईश्वरवाद की संकल्पना के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

15.15 प्रश्न बोध

1. अशुभ की समस्या पर विभिन्न दार्शनिकों के समाधान का एक संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है।
3. प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्ड मात्र है।
4. अशुभ अपूर्ण शुभ है'– इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

15.16 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

इकाई–16

अशुभ की समस्या का औचित्य

इकाई की रुपरेखा–

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 शुभ के अस्तित्व के लिए अशुभ का होना आवश्यक है।

16.3 अशुभ शुभ का प्रशिक्षक है

16.4 अशुभ मानव जीवन का निश्चित सत्य है।

16.5 मैक्टागर्ड और फरेल का मत।

16.6 अशुभ अपूर्ण शुभ ही है।

16.7 अशुभ शुभ का साधन है।

16.8 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ एक दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं।

16.9 अशुभ की समस्या का औचित्य।

16.10 महात्मा बुद्ध के अनुसार अशुभ की समस्या का औचित्य

16.11 प्राकृतिक और नैतिक अशुभ का मानव जीवन पर प्रभाव

16.12 विश्व स्तर पर अशुभ के कारण मानव जीवन पर बढ़ता संकट

16.13 निष्कर्ष

16.14 सारांश

16.15 प्रश्न बोध

16.16 उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

अशुभ की समस्या के उद्भव का प्रमुख कारण ईश्वरवाद है। धर्म परायण व्यक्ति जब अपने जीवन में ईश्वरवाद को अपनाता है; तो वह ईश्वर को परम शुभ, पूर्ण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायशील, परम दयालु, करूणा का सागर एवं सम्पूर्ण सृष्टि की कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता मानता है। वह इस प्रकार के ईश्वर में ही आस्था रखता है और उसकी उपासना करता है। धार्मिक व्यक्ति का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि इस प्रकार के ईश्वर को उपासना का विषय बनाया जाए; तो वह अवश्य प्रेम, दया एव करुणा का परिचय देते हुए हमें हमारे दुःखों से मुक्ति प्रदान करेगा। मानव जीवन में अशुभ एक तथ्यात्मक अनुभूति है और इस प्रकार के तथ्यात्मक अनुभूति को हमें अपने जीवन में स्वीकार करते हुए इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या हमारे जीवन में विद्यमान इस प्रकार के तथ्यात्मक अनुभूति को हमें अपने जीवन में स्वीकार करते हुए इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या हमारे जीवन में विद्यमान इस प्रकार के अशुभ का कोई औचित्य है? यदि ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता है; तो उसे एक ऐसी सृष्टि की रचना करनी चाहिए थी; जहाँ अशुभ लेश मात्र न हो और सम्पूर्ण सृष्टि सत्यं शिवं सुन्दरम् के आदर्श को चरितार्थ कर रही हो।

16.1 प्रस्तावना

धर्म परायण व्यक्ति जब ईश्वरवादी अवधारणा को स्वीकार करता है; तो वह उपास्यता की दृष्टि से ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सगुण तथा चेतन सत्ता के रुप में अपने जीवन उसे ग्रहण करता है। धर्म में ईश्वरवादी अवधारणा को उपास्यता की दृष्टि से विशेष महत्व दिया गया है। ईश्वरवादी संकल्पना के अनुसार ईश्वर परम शुभ, पूर्ण, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है। अतः सर्वोच्च शुभ के प्रतीक रुप ईश्वर से अशुभ की उत्पत्ति मानवीय बुद्धि के परे है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विश्व विद्यमान अशुभ का मूल कारण क्या है? क्या अशुभ को भी ईश्वर सृष्टि की रचना के समय ही उत्पन्न कर देता है और यदि ऐसा है; तो इस प्रकार के ईश्वर को परम शुभ और पूर्ण कैसे माना जा सकता है? यह स्थिति ईश्वर में विद्यमान अभाव है और न्यूवता की द्योतक है तथा ईश्वर

के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। धार्मिक व्यक्ति एक ऐसे ईश्वर की प्रार्थना और उपासना करना चाहता है; जो उसके करुण कन्दन को सुन सके। उसके ऊपर दया, करुणा आदि भावों को प्रकट कर उसे सभी प्रकार दुःखों से मुक्ति का आश्वासन दे सके। इस प्रकार अशुभ का मूलकारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर को परम शुभ माना गया है। ऐसी स्थिति में अशुभ के कारण के रुप में ईश्रेत्तर सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यदि अशुभ के कारण के रुप में कोई ईश्वरेतर सत्ता है; तो द्वैतवाद की पुष्टि होती है और इस प्रकार दो निरपेक्ष सत्ताएँ एक दूसरे को सीमित कर देती है और इस प्रकार ईश्वर सीमित हो जाएगा। सीमित ईश्वर ईश्वरवादियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता है। यदि ईश्वर अशुभ को दूर करने में अशक्त है, तो उसे सर्वशक्तिमा नहीं कहा जा सकता है। विश्व में अशुभ की सत्ता सर्वानुभूत है। यदि ईश्वर को सृष्टि रचना के ऐसे प्राणियों का ज्ञान नहीं था; जो विश्व में आने के बाद अशुभ पैदा करते हैं; उसे सर्वज्ञ नहीं का जा सकता है। यदि ईश्वर को ऐसे प्राणियों का ज्ञान था; जो ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि ईश्वर ने ऐसे जीवों को विश्व में अशुभ पैदा करने के लिए क्यों भेज दिया है? ऐसी स्थिति में इस प्रकार के ईश्वर को दया करुणा एवं प्रेम का पारावार कैसे कहा जा सकता है? एपीक्यूरस इस अशुभ की समस्या को बड़े ही सुन्दर ढंग से उभयतः पाश द्वारा प्रस्तुत किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि ''यदि ईश्वर अशुभ को दूर करना चाहता है; फिर भी अभी तक अशुभ को दूर नहीं कर पाया है; तो क्या वह अशुभ को दूर करने में असमर्थ नही सिद्ध होगा? यदि समर्थ होने पर भी वह उसे दूर नहीं करना चाहता है; तो ऐसा ईश्वर क्या अशुभ नही सिद्ध होगा? यदि ऐसी बातें नहीं हैं; तो क्या वह समर्थ भी है और चाहता भी है कि अशुभ न रहें; तब फिर अशुभ क्यों है? इनमें से ईश्वर के सन्दर्भ ं किसी भी पक्ष को स्वीकार करने पर ईश्वर के ईश्वरत्व को ही हानि पहुँचती है। अतः यदि हम ईश्वरवाद की इस गुण को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर परम शुभ है; तो इस आधार पर विश्व में विद्यमान अशुभ की व्याख्या संभव नहीं लगती है।

विश्व में अनुभूत होने वाले अशुभ के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण और आशापूर्ण दृष्टिकोण हैं– नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण और आशापूर्ण दृष्टिकोण। जर्मन दार्शनिक शोपेन हॉवर ने सम्पूर्ण विश्व को बुराईयों से परिपूर्ण माना है। उसका कहना है कि हम अतृप्त आकांक्षाओं और इच्छाओं की लाश लिए अवसाद की काली रात में जिन्दगी का

भार ढोते रहते हैं। गौतम बुद्ध की दृष्टि में, जीवन का हर क्षण विषादमय है। संसार के हर सुखद वस्तु की अन्तिम परिणति भयंकर दुःख में होती है।

आशावादी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों को सर्वत्र शुभ ही शुभ ही दिखता है। सर जॉन लुकबॉक ने अपनी पुस्तक 'The pleasure of life' में आगमनात्मक विधि से विश्व को आशा के चमकीले रंगों से रंजित करके देखा है। लाइबनित्ज ने अपनी कृति (Theodicy) वर्तमान विश्व को ही सर्वोत्तम बताया है; किन्तु लाइबनित्ज का यह दृष्टिकोण दो प्रकार के दो राहे एकान्तवाद के समान है। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य ने विश्व को सत्य और असत्य का मिथुनीकरण कहा है; तो यह शुभ और अशुभ का मिथुनीकरण ही होगा।

16.2 शुभ के अस्तित्व के लिए अशुभ का होना आवश्यक है।

सर्वसंग्राही दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि अशुभ को समग्रता की दृष्टि से देखा जाए तो जो अशुभ है वह शुभ है। स्वाद की दृष्टि से कड़वी दवा अशुभ है किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से शुभ है। अशुभ के कारण जीवन में शुभ का मूल्य है।

16.3 अशुभ शुभ का प्रशिक्षक है

यदि मनुष्य को आग छूने से जलने के बाद पीड़ा न होती; तो वह जब इच्छा होती जलकर मर जाता। दुःख मानव जीवन में प्रशिक्षक के रुप में उपस्थित होता है। कॉटे से कॉटा निकलता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशुभ से ही का उत्सादन करके शुभ को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

अशुभ एक प्रकार का अभाव है और यह अभाव मनुष्य के कर्म के द्वारा स्वयं के निरसन की अपेक्षा करता है। इस प्रकार देखा जाए मनुष्य सुख के रुप में शुभ को अवश्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है; किन्तु शुभ की प्राप्ति में अशुभ बहुत ही उपयोगी है। अशुभ मनुष्य को विपत्ति के प्रति सावधान करता है। प्रो0 टेनेण्ट का यह कहना है कि– ''यदि विश्व का अध्ययन उसके समग्रता में किया जाए, तो अशुभ के विकास का उपपरिणाम है''। कई बार गिरकर ही बच्चा चलना सिखता है।

इस प्रकार यह देखाा जाए; तो स्पष्ट होता है कि विश्व में प्रचलित अशुभ के रुप हैं– प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ। प्राकृतिक अशुभ प्रकृति का विधान हैं; जिस पर

मनुष्य का कोई वंश नहीं होता है। नैतिक अशुभ मनुष्य के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम होता है। प्रायः यह माना जाता है कि नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। जब मनुष्य अपने संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करता है, तो ऐसे लोगों को दण्डित करने के लिए ईश्वर ने प्रकृति की व्यवस्था की है। जहाँ नैतिक अशुभ के कारण प्राकृतिक अशुभ उत्पन्न होता है, वहीं प्राकृतिक अशुभ से नैतिक अशुभ भी विकसित होता है। भूखा मनुष्य कौन सा पाप नहीं कर सकता– बुभु क्षितं किं न करोति पापं'। प्रो0 टेनेण्ट का तो यहाँ तक कहना है कि– ''प्राकृतिक अशुभ से प्राप्त होने वाला दुःख दर्द वह मूल्य है, जो व्यक्ति नैतिक उच्चता को प्राप्त करने में चुकाना ही पड़ेगा।''

16.4 अशुभ मानव जीवन का निश्चित सत्य है।

इसमें कोई संदेह नही है कि अशुभ मानव जीवन का एक निश्चित सत्य है। अशुभ को मानव जीवन से बिल्कुल बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। शारीरिक पीड़ा से कराहता हुआ व्यक्ति उसे भ्रम मात्र कहकर उस पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता। यह संभव है कि रहस्यानुभूति में अशुभ की सत्ता का विपरिलोप हो, किन्तु व्यवहार में अशुभ शुभ की ही भॉति यथार्थ है। मानव जीवन में सामन्यतया शुभ और अशुभ दोनों का ही प्रत्यक्षानुभूति होती है। परमार्थतः भले ही अशुभ का अस्तित्व न हो किन्तु व्यवहारतः अशुभ की सत्ता को अस्वीकार करना संभव नहीं है।

16.5 मैक्टागर्ड और फरेल का मत।

मैक्आगर्ड और फेरल का कहना है कि – ''जिस विवेक से शुभ के अस्तित्व का निर्णय किया जाता है; उसी विवेक से अशुभ का अनस्तित्व है, तो शुभ ही अशुभ की ही भॉति अनस्तितवान होगा। अशुभ की वास्तविकता को नकारना एक निरर्थक प्रयास है।''

16.6 अशुभ अपूर्ण शुभ ही है।

प्रायः कुछ लोगों का अशुभ शुभ नहीं है तो इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शुभ ही है; तो इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शुभ भी अपूर्ण अशुभ है। सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र शुभ की सत्ता को स्वीकार करना एकान्तिक दृष्टिकोण है। अशुभ को न मानने से नैतिक सन्देहवाद का उदय होता है। जो सामान्य जीवन के लिए घातक

हैं वास्तविकता यह है कि जो सामान्य जीवन के लिए घातक है। वास्तविकता यह है कि अशुभ ही मानव को शुभ की प्राप्ति के प्रति सचेत करता है।

16.7 अशुभ शुभ का साधन है।

कुछ लोगों का अशुभ के सम्बन्ध में कहना है कि अशुभ शुभ का साधन है। परन्तु यदि माना जाए कि अशुभ से शुभ की प्राप्ति होती है; तो दरिद्रता से समृद्धि की प्राप्ति होनी चाहिए; जबकि वास्तविकता यह है कि दरिद्रता अनेक बुराईयों की जननी है। यदि यह माना जाए कि अशुभ शुभ का साधन है; तो यह कौन निश्चित करेगा कि दुःख की कितनी मात्रा से सुख की कितनी मात्रा प्राप्त हो सकती है? यदि अशुभ को शुभ का कारण माना जाए तो यह कहना तर्कसंगत होगा कि अधिक मात्रा वाला दुःख अधिक मात्रा वाले सुख को उत्पन्न करने में समर्थ है। परन्तु व्यवहारतः यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि अत्यधिक दुःख से बोझिल मानव अन्ततः घुटकर दम तोड़ देता है। ऐसी स्थिति में अत्यधिक दुःख से संत्रस्त मनुष्य को कब और कैसे सुख की प्राप्ति होती है अतएव यह कहा जा सकता है कि शुभ और अशुभ का सृष्टि से स्वतंत्र अस्तित्व है। शुभ और अशुभ में से किसी को किसी का न तो साधन माना जा सकता है और न ही साध्य माना जा सकता है।

16.8 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ एक दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं।

प्रायः अशुभ के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह भी है कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ का पूर्ववर्ती है या नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ का पूर्ववर्ती है। कुछ विचारक यह मानते है कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को जन्म देता है। इन लोगों का यह कहना है कि प्राकृतिक अशुभ से संत्रस्त व्यक्ति ही नैतिक अशुभ का शिकार बनता है। ये लोग तर्क देते हैं कि भूखा व्यक्ति ही क्षुब्धा को तृत्त करने के लिए चोरी करने को विवश होता है। परन्तु कुछ लोगों का यह कहना है कि नैतिक अशुभ के लिए मनुष्य पूर्णतया उत्तरदायी है और नैतिक अशुभ भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन छिद्र जैसे अनेक प्राकृतिक अशुभ को जन्म देता है। यही कारण है कि अनेक परवर्ती विचार यह मानने लगे हैं कि नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ दोनों ही परस्पर पूरक है और एक दूसरे अशुभ की उत्पत्ति में योगदान देते हैं।

16.9 अशुभ की समस्या का औचित्य।

ईश्वरवाद के अनुरुप अशुभ की समस्या का कोई तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान एवं परमशुभ मानते हुए उसके द्वारा रचित इस जगत में दुःख एवं दुराचरण के रुप में विद्यमान अशुभ ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध एक ऐसी गम्भीर आपत्ति है, जिसका तर्कसंगत रुप में समाधान करना ईश्वरवादियों के लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि ईश्वर का परित्याग कर देने पर अशुभ की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है? ईश्वरवाद को अस्वीकार कर देने के पश्चात् विश्व में विद्यमान प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ की संतोषप्रद व्याख्या कैसे हो सकती है और दुःख दुराचरण को कम करने के लिए मनुष्य क्या कर सकता है? अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के बिना इस समस्या का निराकरण करने का प्रयास किया है।

16.10 महात्मा बुद्ध के अनुसार अशुभ की समस्या का औचित्य

महात्मा बुद्ध ने ईश्वर को कोई स्थान दिये बिना ही मनुष्य की तृष्णा को ही उसके दुःख का मूल कारण मानते हैं, जो उनके अनुसार अविद्या से उत्पन्न होती है। परन्तु महात्मा बुद्ध के द्वारा दुःख की गयी व्याख्या की एक प्रमुख कठिनाई यह है कि वे अविद्या के स्वरुप एवं उद्‌गम की कोई संतोषप्रद व्याख्या नही ंकर पाते हैं। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने आष्टागिक मार्ग के निष्ठापूर्वक अनुसरण के द्वारा नैतिक अशुभ से मुक्ति को संभव मानते हैं, किन्तु रोग तथा अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न पीड़ा और दुःख रुप में संसार के सभी प्राणियों द्वारा अनुभूत प्राकृतिक अशुभ का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया गया है।

व्यावहारिक दृष्टि से अशुभ की समस्या का समाधान खोजने का प्रयास करने पर यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक आपदाएं सभी प्राणियों के जीवन में अत्याधिक दुःख उत्पन्न करती हैं और इन सब प्राकृतिक आपदाओं को नियंत्रित करना मनुष्य के लिए संभव भी नहीं है। परन्तु मनुष्य सम्पोष्य विकास के द्वारा बाढ़, सूखा, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक आपदाओं कुछ सीमा तक कम करने मे अवश्य सफल हो सकता है। मनुष्य पेड़–पौधों की सुरक्षा तथा वृद्धि, पर्यावरण की शुद्धि और अपने चारों ओर स्वच्छता का अधिकाधिक प्रयास करके अनेक प्राकृतिक आपदाओं का काफी सीमा तक निराकरण अवश्य प्राप्त कर सकता है। आज के युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरुप

मनुष्य अनेक भयंकर एवं दुःखद स्थितियों को दूर करने में सक्षम अवश्य हो गया है; किन्तु अपने सम्पूर्ण जीवन से अशुभ को समाप्त नही ंकर सका है।

16.11 प्राकृतिक और नैतिक अशुभ का मानव जीवन पर प्रभाव

मनुष्य केवल प्राकृतिक अशुभ द्वारा ही पीड़ित एवं दुःखी नहीं होता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य स्वयं अपने दुराचरण द्वारा जगत में जानबूझकर बहुत बड़ी मात्रा में दुःख को जन्म देता है। वह लालच, वासना, ईर्ष्या प्रतिरोध की भावना आदि आन्तरिक दुर्गुणों से प्रेरित होकर दूसरों के लिए तथा स्वंय अपने लिए अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है। अतएव नैतिक अशुभ के लिए स्वंय मनुष्य ही उत्तरदायी है और वह अपने दुर्गुणों को नियमित करके इससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

16.12 विश्व स्तर पर अशुभ के कारण मानव जीवन पर बढ़ता संकट

वर्तमान समय में विश्व के सभी राष्ट्र पारस्परिक भय तथा अविश्वास के कारण घातक शास्त्रास्त्रों के संग्रह के द्वारा मानवजाति अनावश्यक दुःख से आक्रान्त होती जा रही है। विभिन्न राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य एवं प्रतिद्धन्द्धिता के कारण मनुष्य की अधिकांश बौद्धिक क्षमता और उसके आर्थिक संसाधनों का उपयोग लोकहित में न होकर केवल उसके सुरक्षा तंत्र को शक्तिशाली बनाने में लग जा रहा है। यह स्थिति मानव समाज को एक अनचाहे व्यापक दुःख की ओर ले जा रही है; जिससे भी बचने की आज महती आवश्यकता है।

मानव समाज में व्याप्त दुःख का एक प्रमुख कारण अज्ञान से उत्पन्न अंधविश्वास भी है। आज भी मनुष्य विज्ञान के विकास के पश्चात् भी अंधविश्वास से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है। विश्व के विभिन्न धर्म की अन्धविश्वास को समाप्त करने में योगदान देने के स्थान पर इन अंधविश्वासों को बनाये रखने में ही योगदान दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि इन अंधविश्वासों से बचा जा सके तथा ज्ञान–विज्ञान के द्वारा अज्ञाजनित अंधविश्वास से निजात पा लिया जाए, तो मानव समाज में विद्यमान दुःख निश्च ही कम हो सकता है।

16.13 निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मनुष्य स्वंय अपने प्रयासों द्वारा संसार में विद्यमान अशुभ के मूल कारणों का निराकरण करके दुःख को पर्याप्त सीमा तक कर सकता

है और इसके लिए ईश्वर जैसे किसी काल्पनिक दैवी शक्ति से सहायता की याचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी अशुभ को पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता है। संसार सत्य और अनृत के मिथुनीकरण से बना है। अतएव संसार में विद्यमान अनृत ही वह तथ्य है, जो सत्य के शुभत्व पक्ष को पूर्णरुपेण प्रकट नहीं होने देता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि संसार का स्वरुप ही सत्य और अनृत का सम्मिलित रुप है; जिसे सभी प्राणियों को साक्षात् रुप में स्वीकार करना होता है। जब तक यह संसार है; तब तक इस संसार में किसी न किसी रुप में अशुभ भी अवश्य रहेगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य का एकमात्र प्रयास अशुभ से बचकर शुभ की प्राप्ति का प्रयास करना है। अशुभ के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराना तथा संसार में केवल शुभ की ही परिकल्पना करना निराकल्पना है।

16.14 सारांश

अशुभ की समस्या के औचित्य पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि अशुभ हमारे जीवन में सर्वानुभूत सत्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता है। अशुभ का मानव जीवन में बहुत ही उपयोगिता है। अशुभ हमें संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। प्राकृतिक अशुभ मानव के नैतिक प्रगति में सहायक बन सकता है। सूखा और बाढ़ से प्रभावित मानव इससे बचने के उपायों को निजात करता है। इतना ही परम शुभ तथा पूर्ण शुभ ईश्वर की यह विश्व योजना है कि मनुष्य अपने शुभ संकल्प का सदुपयोग करके अपने और सम्पूर्ण समाज के लिए शुभ का चुनाव करे और विकास के पथ पर अग्रसर हो। जो मनुष्य अविवेकपरक आचरण करता है; वह ही नैतिक अशुभ का शिकार होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि यदि प्राकृतिक अशुभ के मूल में प्रकृति है तो नैतिक अशुभ के मूल में मनुष्य है।

16.15 प्रश्न बोध

1. अशुभ के औचित्य पर प्रकाश डालिएं।
2. अशुभ का मानव जीवन में क्या प्रासंगिकता है? विवेचना कीजिए।

16.16 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन– डॉ0 याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं– डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 शिव भानु सिंह

खण्ड–5 आत्मा की अमरता

इकाई 17

आत्मा की अमरता का अर्थ एवं वर्गीकरण

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 अमरता के प्रकार

17.3 कर्म एवं पुनर्जन्म

17.4 कर्मों का वर्गीकरण

17.5 समीक्षा

17.6 सारांश

17.7 बोध- प्रश्न

17.8 उपयोगी पुस्तकें

----------000----------

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि अमरता से क्या तात्पर्य होता है ? अमरता कितने प्रकार की होती है?तथा कर्म कितने प्रकार के होते हैं

कर्म के सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को समझने का प्रयास करेंगे। हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि कर्म का सिद्धांत एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत किस प्रकार से अमरता के सिद्धांत से अंतर्संबंधित हैं।

17.1 प्रस्तावना

विश्व के अनेक धर्मों में आत्मा के अस्तित्व और अमरता से संबंधित विश्वास को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। अमरता की संकल्पना में माना जाता है की शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व विद्यमान रहता है। मृत्यु में केवल स्थूल शरीर का विनाश होता है ,आत्मा का नहीं। आत्मा का अमरता से संबंधित विचार अति प्राचीन है ।प्रारंभ में इसे स्वत: सिद्ध मानते हुए तर्क से परे समझा जाता था, किंतु वाद में अमरता पर उठे संदेहों को दूर करने के लिए पश्चात दर्शिनको प्लेटो- एकविनास, डेकार्ट आदि ने भी तर्क के माध्यम से अमृता को सिद्ध करने का प्रयास किया है ।भारतीय चिंतन में भी उपनिषद गीता आदि में आत्मा को अमर स्वीकार किया गया है।

अमरता को स्वीकार करने के बावजूद इसके स्वरूप को लेकर मतैक्य नहीं है। कुछ दार्शनिक मानते हैं की मृत्यु के उपरांत आत्म चेतना से युक्त व्यक्तित्व बना रहता है, जबकि कुछ धर्म में व्यक्तित्वहीन अमरता पर विश्वास

किया जाता है ।इनके अतिरिक्त शरीरी ,अशरीरी सामाजिक - जैविक सीमित असीमित आदि अमरताओ का उल्लेख भी मिलता है। इन सभी विवरणों में शरीर के अंत के साथ आत्मा के अंत को अस्वीकार किया गया है ।

17.2 अमरता के प्रकार

सामन्यत: अमरता के दो विभेद किए जाते हैं - जैविक अमरता एवं सामाजिक अमरता। जैविक अमरता यह है जिसके अंतर्गत यह माना जाता है कि व्यक्ति तो मर जाता है परंतु संतान के रूप में वह अमर रहता है। जैसा कि वर्गसा लिखता है कि जीवन एक ऐसा प्रवाह है जो एक कीटाणु से दूसरे कीटाणु में प्रवाहित होता है रहता है और इस प्रकार कीटाणु जीवन के माध्यम से अमर जीवन की संभावना सिद्ध होती है, इसे ही जैविक अमरता कहते हैं।

इस आधार पर प्लेटो कहते हैं कि वर्तमान जीवन में हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं,वह पूर्वजन्म में प्राप्त हमारे ज्ञान की स्मृति मात्र है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि समस्त ज्ञान पुनः स्मरण मात्र है। प्लेटो मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान के लिए कुछ अनिवार्य एवं सार्वभौम प्रत्यय होते हैं,जो की अनुभव जन्य ना होकर स्मृति जन्य है।शारीरिक सहचर्य एवं इंद्रीय जगत से संबंधित होने के कारण आत्मा का विवेक क्षीण हो जाता है, उसे पूर्व जन्म का केवल धुंधला स्मरण रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म से आत्मा संबंधित है।

प्लेटो अपनी पुस्तक 'मीनो' में एक ऐसे छात्र का उल्लेख करते हैं ,जो गणितीय ज्ञान से अपरिचित होने पर भी कौशल पूर्ण तर्क पद्धति से गणितीय ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस आधार पर प्लेटो कहते हैं कि स्मरण करने की प्रक्रिया ही शिक्षण है, क्योंकि आत्मा में पहले से ही एक अंतर निहित होता है। प्रथम बार आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति दिव्य लोक में अदैहिक अवस्था में हुई होगी।

आत्मा की अमरता के विषय में भारतीय दर्शन के अंतर्गत व्यापक चिंतन हुआ है, जिसमें कर्म सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के आधार पर आत्मा की अमरता का समर्थन मिलता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार आत्मा ही वास्तविक कर्ता तथा भोक्ता है। हमें अपने द्वारा किए गए प्रत्येक कर्म का फल भोगना अनिवार्य है, इसलिए शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। वृहदानर्यक उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा अविनाशी एवं उच्छेद रहित है।यह अजन्मा,अजर- अमर एवं अमित स्वरूप है। अमरता के संदर्भ में भागवतगीता में भी व्यापक चिंतन मिलता है।

गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार मानव - आत्मा शैशव,यौवन एवं प्रौढ़ जैसी विभिन्न शारीरिक अवस्था में स्थित रहती है,उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात वह विभिन्न शरीरों में निवास करती है।आत्मा कभी नष्ट नहीं होती ,शस्त्र उसे कभी मार नहीं सकते और अग्नि उसे जला नहीं सकती। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण गीता में मिलते हैं,जो की अमरता का समर्थन करते हैं। सांख्य एवं वेदांत दर्शन मानते हैं की सूक्ष्म,शरीर, आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में अतिक्रमण करता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा पुनर्जन्म के समय जिस शरीर में प्रवेश करती है, उसका आकार ग्रहण कर लेती है।

इसमें कई दोष हैं- पहला , ऐसी अमरता अत्यंत ही सीमित हो जाती है क्योंकि बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो आविवाहित हैं और जो विवाहित हैं उनमें भी कई नि:संतान है। यदि इस अवधारणा को मान लिया जाए कि व्यक्ति संतान के रूप में ही जीवित रहता है तब निश्चित ही ऐसे लोग अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरा , अमरत्व की यह अवधारणा व्यक्ति के मन को संतोष नहीं दिला पाती , क्योंकि वह तो जानता है कि हमें तो निश्चित रूप से मरना ही है।तीसरा, यह की धर्म परायण व्यक्ति अमरत्व की उसी अवधारणा को मानते हैं जो शरीर से पृथक एवं शाश्वत हो।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिक सामाजिक अमरता की अवधारणा को मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति तो मर जाता है फिर भी वह समाज में कुछ मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना करता है । अतः वह उन्हें मूल्यों एवं आदर्शो के

माध्यम से समाज में जीवित रहता है। यथा- स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद ,दयानंद सरस्वती ,महात्मा गांधी ,जवाहरलाल नेहरू, रविंद्र नाथ टैगोर जैसी प्रवृत्ति सभी व्यक्ति समाज में मूल्यों की स्थापना कर आज भी अमर है; ऐसी अमरता को सामाजिक अमरता कहते हैं।

इसमें यह दोष है कि या अमरता बहुत ही सीमित लोगों को प्राप्त हो पाती है क्योंकि समाज में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना कर पाते हैं। यही नहीं यह अवधारणा मनुष्य के अंतर्गत मृत्यु के भय को परास्त भी नहीं कर पाती क्योंकि यह जानता है कि वह समझ में मूल्यों की स्थापना ना कर पाने के कारण अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत अमरता ही हमारा सर्वोच्च आदर्श है।

एक अन्य दृष्टिकोण से अमरता को अशारीरिक एवं शारीरिक इन दो भागों में विभक्त किया गया है । अशारीरिक अमरता वह है जिसके अंतर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि मृत्यु के उपरांत व्यक्ति का शरीर तो विनष्ट हो जाता है परंतु आत्म - चेतना से युक्त उसका व्यक्तित्व बना रहता है ; इस अशारीरिक अमरता के भी दो भेद किए गए हैं, व्यक्तित्वपूर्ण अमरता एवं निर्वेयक्तिक अमरता । व्यक्तित्वपूर्ण वह है जहां मृत्यु के उपरांत मनुष्य का आत्म - चेतना से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है ; भारतीय दर्शन में वैष्णो संप्रदाय तथा पश्चात परंपरा में जसिया रायस एवं मैक्टेगट आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने व्यक्तित्वपूर्ण अमरता को माना है । वैष्णो संप्रदायी मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के उपरांत ईश्वर के लोक में पहुंचता है , वहां पर उसके अहंकार का तो अंत हो जाता है परंतु उसका चेतन से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है । इस प्रकार व ईश्वर की भक्ति एवं आराधना कर सके। इस प्रकार वैष्णो संप्रदाय मानते हैं की मोक्ष में व्यक्तित्व का अंत नहीं होता, बल्कि अहंकार का अंत होता है।

जसिया रायस भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट एवं अनूठा व्यक्तित्व होता है जिसका स्थानापन्न कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। उसके अनुसार ईश्वर में व्यक्ति प्रयोजन एवं मूल्य की दृष्टि से जीवित रहता है। जिस प्रकार संपूर्ण संख्याओं का समूह अनंत होते हुए भी प्रत्येक संख्या दूसरे से पृथक है ,उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की अन्नतता में स्थित होते हुए भी अपना पृथक व्यक्तित्व अक्षुण्ण बनाए रहता है। इसी प्रकार मैक्टैगर्ट का कहना है कि आत्माओं का निरपेक्ष में वही स्थान है जो समाज में व्यक्ति का।

दूसरी ओर व्यक्तित्व रहित अमरता की संकल्पना भारतीय दार्शनिक आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं। आचार्य के अनुसार जब जीव को मोक्ष मिलता है तब उसका ब्रह्मसे पृथक व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म के समतुल्य नहीं होता जैसा की वैष्णव संप्रदायी मानते हैं अपितु जीव साक्षात ब्रह्मा हो जाता है। इस अवस्था में जीव एवं ब्रह्मा के बीच विभेद का प्रभाव हो जाता है; जीव का जीवत्व ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता हो , जिस प्रकार एक घड़े का जल समुद्र के जल में विलीन हो जाने के उपरांत घड़े के जल और समुद्र के जल के बीच भेद समाप्त हो जाता है अर्थात दोनों में तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

व्यक्तित्व रहित अमरता के विपरीत शारीरिक अमरता की अवधारणा है। इसके अंतर्गत मनुष्य के संदेह अमर होने की कल्पना की गई है। उनके अनुसार मृत्यु के उपरांत व्यक्ति का पुनर्जन्म तो नहीं होता है अपितु वह सशरीर न्याय दिवस के दिन ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है ,जहां उसके कर्मों का मूल्यांकन होता है। इसलिए इन धर्मों में केवल मनुष्य ही अमरत्व का अधिकारी है ना कि पशु पक्षी या अन्य प्राणी। इस मत का समर्थन इस्लाम, यहूदी और ईसाई धर्म में किया गया है।

अंततः व्यापकता की दृष्टि से अमरत्व के दो भेद किए जाते हैं ;व्यापक अमरता एवं सीमित अमरता। व्यापक अमरता के अंतर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि सभी मनुष्य यहां तक की पशु - पक्षी भी एक न एक दिन अमरत्व को अवश्य ही प्राप्त करेंगे। इसके लिए ना तो शुभ कर्म आवश्यक है ना ही ईश्वरीय कृपा। स्पष्टत: यह अवधारणा केवल और केवल हिंदू धर्म में मानी गई है।इसके विपरीत ईसाई धर्म में यह माना गया है कि केवल शुभ कर्म करने वाला मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है और दूसरा यह कि केवल और केवल मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है कोई अन्य प्राणी नहीं क्योंकि वाइविल की परंपरा में आत्मा केवल मनुष्य के अंतर्गत है अन्य

प्राणियों के अंतर्गत नहीं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर यह केवल मनुष्य को ही अमरता का अधिकारी मानते हैं।

17.3 कर्म एवं पुनर्जन्म

भारतीय दर्शन और धर्म में तथा विश्व के अन्य धर्मों में भी जहाँ 'कर्म और पुनर्जन्म' की चर्चा की गयी है, वहाँ 'कर्म' का ताल 'कर्म का नियम' या 'कर्म' का सिद्धान्त या 'कर्मवाद' है। सामान्य रूप से 'कर्म' मनुष्य के शरीर या मन से की जाने वाली वह क्रिया है जो बाह्य या आन्तरिक जगत् में कोई परिवर्तन उत्पन्न करे। यह 'कर्म' 'ऐच्छिक' भी हो सकता है, और 'अनैच्छिक' भी। नैतिक दृष्टि से मनुष्य द्वारा किया गया वही 'कर्म' उत्तरदायित्वपूर्ण माना जाता है, जो ऐच्छिक रूप से किया जाता है। अर्थात् किसी कर्म को मनुष्य सोच-समझकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से करता है। अनैच्छिक कार्यों का उत्तरदायित्व नैतिक दृष्टि से मनुष्य के ऊपर नहीं थोपा जाता। जिस तरह भौतिक क्षेत्र में पायी जाने वाली व्यवस्था की व्याख्या 'कारण-नियम' से होती है, उसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में पायी जाने वाली व्यवस्था की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य द्वारा किए गए शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का फल कभी नष्ट नहीं होता, और साथ ही यदि मनुष्य ने कोई कर्म नहीं किया है तो उसका फल भी उसे नहीं प्राप्त होता। सदैव किए हुए कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। 'कर्म-सिद्धान्त' के विषय में डॉ0 राधाकृष्णन ने सरल रूप से इस प्रकार कहा है- "कर्म सिद्धान्त के अनुसार नैतिक जगत में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है। "

कर्म सिद्धान्त के विषय में यह जोर देकर कहा गया है कि 'सुकर्मो द्वारा ही मनुष्य पुण्यात्मा बनता है। बृहदारण्य उपनिषद् का सन्दर्भ देते हुए कहा गया है कि 'पुण्य कर्मों से मनुष्य पुण्यात्मा एवं पाप कर्मों से पापी होता है।' इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार कहा गया है कि "मनुष्य इस लोक में जैसे संकल्प धारण करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अतः मनुष्य को सत्संकल्प करने चाहिए। " कर्म सिद्धान्त कहता है "कर्म के प्रतिफल के ही लिए इस जन्म एवं मृत्यु वाले संसार की सृष्टि होती है, जो अनादि है एवं अनन्त है। कर्म का सिद्धान्त अपनी लपेट में मनुष्यों, देवताओं पशुजगत एवं वनस्पति सबको ले लेता है। "

कर्म-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध कर्मों से है। कर्म-फल की प्राप्ति होनी ही है। कर्म-फल की प्राप्ति की दृष्टि से कर्मों का वर्गीकरण किया गया है। भारतीय दर्शन में दार्शनिकों ने अपने मत के अनुसार कर्मों का वर्गीकरण किया है। कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करने वाले दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मो का फल है और भविष्य का जीवन वर्तमान के जीवन का फल होता है। इसका अर्थ यह हुआ है कि भूत, भविष्य और वर्तमान कारण-कार्य की श्रंृखला में ग्रथित है। यदि कोई व्यक्ति दुःखी है तो कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ऐसी मान्यता है कि दुःख व्यक्ति के पूर्व जीवन का फल है। यदि व्यक्ति भविष्य के जीवन में सुखी रहना चाहता है तो उसे वर्तमान जीवन में उसके लिए प्रयत्न करना होगा। इसी अर्थ में कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। कर्म की इस मान्यता को विभिन्न दर्शनों में अपने तरीके से निरूपित किया गया है।

कर्म-सिद्धान्त को सर्वप्रथम 'वेद' में देखा जा सकता है। वेद इसे नैतिक व्यवस्था के रूप में मानता है। इस व्यवस्था को वह 'ऋत' कहता है। ऋत और कुछ नहीं 'जगत की व्यवस्था' के रूप में हैं। अर्थात् जगत की व्यवस्था नैतिक व्यवस्था के रूप में देखी जा सकती है। वेद के पश्चात् 'ऋत' का मत उपनिषद् में कर्म-सिद्धान्त या कर्मवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। न्याय-वैशेषिक कर्म-सिद्धान्त को 'अदृष्ट की संज्ञा देता है। इसे अदृष्ट इसलिए कहा जाता है कि यह दृष्टिगत नहीं होता। विश्व इसी से प्रभावित है। मीमांसा में इसे (कर्म-सिद्धान्त) 'अपूर्व' कहा गया है। न्याय वैशेषिक और मीमांसा में अन्तर यह है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक यह मानता है कि 'अदृष्ट' का संचालन ईश्वर द्वारा होता है, वहाँ मीमांसा का कहना है कि अपूर्व को संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

कर्म-सिद्धान्त के विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कर्म-सिद्धान्त केवल उन्हीं कर्मों पर लागू होता है, जो कर्म वासना या रोग-द्वेष से युक्त होते हैं। इसके विपरीत निष्काम भाव से किए गए कर्मो के विषय में कर्म सिद्धान्त लागू

नहीं होता। कहा जाता है कि 'निष्काम भाव से किए गए कर्मों के विषय में कर्म-सिद्धान्त लागू नहीं होता। कहा जाता है कि 'निष्काम भाव से किए गए कर्मों के विषय में कर्म-सिद्धान्त लागू नहीं होता। कहा जाता है कि 'निष्काम कर्म' भूजें हुए ऐसे चने के समान है जो जमीन में बोने पर अंकुरित नहीं हो सकता। अर्थात् 'निष्काम कर्म पर कर्म-सिद्धान्त कार्य नहीं कर सकता।

17.4 कर्मों का वर्गीकरण

कर्मों का वर्गीकरण कर्म के फल की प्राप्ति की दृष्टि से भी किया गया है। ऐसे तीन प्रकार के कर्म बताए हैं- 1. प्रारब्ध 2. संचित और 3. संचीयमान अथवा क्रियमाण कर्म। प्रारब्ध कर्म उन्हंे कहते हैं जिन कर्मों को मनुष्य पहले कर चुका है और जिसका फल व्यक्ति को मिलना प्रारम्भ हो गया है। इसका सम्बन्ध अतीत के जीवन से है। प्रारब्ध कर्मों का फल मनुष्य को अवश्य ही भोगना है। संचित कर्म उस कर्म को कहते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर चुका है किन्तु उसके फल की प्राप्ति अभी शुरू नहीं हूयी है। कहा जाता है कि साधना या ईश्वर की कृपा से संचित कर्मों के फल में परिवर्तित करना मनुष्य के लिए संभव है। संचीयमान या क्रियमाण कार्य उसे कहते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में कर रहा है और उन कर्मों का फल इस जीवन में नहीं भविष्य के जीवन में प्राप्त होगा। इस क्रियमाण या संचीयमान कर्मों को करने में मनुष्य स्वतन्त्र रहता है। इन कर्मो। द्वारा मनुष्य अपने भविष्य के जीवन का अथवा भाग्य का निर्माण कर सकता है। यदि मनुष्य सत्कर्म करता है तो उसका भावी जीवन सुधर जाता है अर्थात् उसको मोक्ष की प्राप्ति में ये कर्म सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त लगा हुआ है। बिना पुनर्जन्म के कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह भी कहा जाता है कि 'कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से पुनर्जन्म नैतिक अनिवार्यता है।' यह अनिवार्यता इसलिए कि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलना है। अच्छे कर्म का फल अच्छा ओर बुर कर्म का फल बुरा होता है। यदि मान लिया जाय कि मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, तो नैतिक अव्यवस्था फैलने से कोई रोक नहीं सकता। इस अव्यवस्था से तो अनैतिक कार्यों को करने वालों को दण्ड नहीं मिल पाएगा और अच्छे कार्यों को करने वाला पुरस्कृत नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं 'कर्म-सिद्धान्त' पर लोगों का विश्वास नहीं रहेगा। परन्तु यह सर्व विदित है कि कर्म-सिद्धान्त कभी असफल नहीं हो सकता। यह ऐसा नियम है, जिसका अपवाद नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार तो मनुष्य को अपने हर भले या बुरे कर्मों का फल भोगना ही है। कर्म-सिद्धान्त में निश्चयवाद होने से प्रत्येक व्यक्ति भले कार्य के लिये प्रेरित होता है और बुरे कार्यों को करने से डरता है।

अतः ऐसी स्थिति में हम यह मानने के लिए विवश हैं कि मृत्यु का अर्थ मनुष्य का विनाश नहीं, वरन् मृत्यु ऐसा परिवर्तन है, जिसके अनुसार मनुष्य एक काया (शरीर) छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है। अर्थात मृत्यु के पश्चात् मनुष्य रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि वर्तमान जन्म के बिना भोगे कर्मफलों को भोगने के लिए मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य का अस्तित्व रहता है और उसे फिर से जन्म लेना आवश्यक है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त नैतक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। चार्वाक दर्शन को छोड़ कर पुनर्जन्म में सभी आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के सम्प्रदायों का विश्वास है। चार्वाक को छोड़कर यह भी सभी मानते हैं कि पुनर्जन्म कर्म के सिद्धान्त से फलित होता है। "कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है कि शुभ कर्मों का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिल जाना संभव नहीं है। इसलिए कर्मफल को भोगने के लिए दूसरा जन्म आवश्यक है। संसार जन्म और मृत्यु की एक अनादि श्रृंखला है। इसका कारण अज्ञान और मिथ्या ज्ञान है। जब तत्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का अन्त हो जाता है। संसार बन्ध है। बन्ध का नाश मोक्ष से होता है। बन्ध का कारण अज्ञान है। मोक्ष का कारण तत्वज्ञान है। "

इस सम्बन्ध में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों का मत कुछ भिन्न है। इनके अनुसार आत्मा की अमरता तथा कर्म के सिद्धान्त में विश्वास किया जाता है, किन्तु पुनर्जन्म में विश्वास नहीं किया जाता। इनके अनुसार मनुष्य के जिन कर्मों का फल वर्तमान जीवन में नहीं मिलता उनका फल पाने के लिए उसकी आत्मा को 'अन्तिम निर्णय के दिन' तक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसी दिन ईश्वर न्याय करता है और लोगांे के कर्मों के अनुसार उन्हें नरक या स्वर्ग में

भेजा जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ये तीनों पुनर्जन्म में विश्वास न करते हुए भी कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

17.5 समीक्षा

कर्म-सिद्धान्त ईश्वर के लिए एक चुनौती है। यदि मनुष्य 'जैसा करेगा वैसा भरेगा' , यह सत्य है तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता ? कहा जाता है कि ईश्वर ही जन्म-मरण का कारण है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है तो फिर यह क्यों कहा जाता है ईश्वर ही जन्म-मरण का कारण हैं। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि मनुष्य ने जो कुछ भूतकाल में किया था वह वर्तमान काल में भोग रहा है और जो वर्तमान काल में कर रहा है, उसका फल भविष्य में प्राप्त करेगा। यदि यही सत्य है तो कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त ही सब कुछ है। ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

कर्म सिद्धान्त में यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है, परन्तु कर्मों को पहले मानने पर यह कठिनाई उत्पन्न होगी कि बिना जीव के अस्तित्व के कर्मों का अस्तित्व कैसे संभव है। यदि जीव को काल की दृष्टि से पहले माना जाय तो वह बिना कर्म किए किस कर्म का फल प्राप्त करता है ? जीवों तथा कार्यों में से किसका अस्तित्व पहले माना जाय-

कहा तो यह जाता है कि पुनर्जन्म का विचार कर्म-सिद्धान्त के अनुसार एक नैतिक अनिवार्यता है। आलोचकों का कहना है कि आत्मा, ईश्वर, सूक्ष्म शरीर और पुनर्जन्म आदि की बाते केवल मान ली गयी हैं, इनके समर्थन में न कोई प्रमाण है और न कोई प्रमाण माँगता ही है। इनको केवल मान लिया गया है। पुनर्जन्म का विचार अवैज्ञानिक हैः

कर्म-सिद्धान्त में एक और आपत्ति जनक बात है उसका अत्यन्त व्यक्ति केन्द्रित होना। अधिकतर समय व्यक्ति की वर्तमान स्थिति के लिए उसके अपने पूर्वजन्मों की ओर ही हमें देखने के लिए कहा जाता है, इससे वर्तमान के संघर्ष एवं उत्तरदायित्व की उपेक्षा हो जाती है।

17.6 सारांश

उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यह मानव जीवन में सकारात्मक भूमिका निभाता है। यहां डॉ0 राधाकृष्णन का यह विचार स्वीकार करना ही होगा- "इस जगत में प्रतीपमान जितनी भी नैतिक अवस्था अथवा दुःखों की विश्रृंखलता है, पूर्वजन्म एवं कर्म का सिद्धान्त ही उसकी व्याख्या कर सकता है। " इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म का एक ओर जितना महत्व नैतिक दृष्टि से व्यक्ति के जीवन में है, उतना ही महत्व सामाजिक दृष्टि से धर्म के अन्तर्गत भी है। दोनो व्यष्टि तथा समष्टि के लिए आवश्यक है।

17.7 बोध- प्रश्न

1. अमरता के प्रकारों की विवेचना कीजिए।

2. कर्म के सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

3. कर्म कितने प्रकार के होते हैं उल्लेख कीजिए।

17.8 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई 18

आत्मा की अमरता हेतु तर्क

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 आत्मा की अमरता से संबंधित प्रमुख तर्क

18.3 आलोचना

18.4 निष्कर्ष

18.5 अमरता के विरुद्ध तर्क

18.6 सारांश

18.7 बोध- प्रश्न

18.8 उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुति इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे की आत्मा का अस्तित्व किस प्रकार का होता है ? हम अमृता को समझने का प्रयास करेंगे। क्या आत्मा शाश्वत होती है? क्या आत्मा अमर होती है ? आत्मा की अमरता से संबंधित विभिन्न तर्कों का परीक्षण करेंगे एवं यह देखने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार से यह तर्क आत्मा की अमरता को सिद्ध करने में सफल अथवा निष्फल हैं । साथ ही हम यह भी देखने का प्रयास करेंगे कि क्या आत्मा की अमरता के विरुद्ध भी तर्क हो सकते हैं और उनकी कितनी तार्किकता है।

18.1 प्रस्तावना

प्रायः आमतौर पर यह देखा गया है कि लोग आत्मा को अमर ही मानते हैं। उसका आधार क्या है यह ज्ञात हो या ना हो लेकिन सामान्य जनमानस खासकर भारतीय समाज में इस प्रकार की धारणा आमतौर पर स्वीकार की जाती है । यद्यपि कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जैसे चार्वाक इत्यादि जो इसमें विश्वास नहीं करते परंतु अधिकांश धर्म दार्शनिक आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हैं । ईश्वर में विश्वास के अपेक्षा आत्मा की अमरता में विश्वास अधिक देखा जाता है ।

चाहे और पौर्वात्य और भारतीय दर्शन हो अथवा पाश्चात्य दर्शन सभी कहीं ना कहीं कुछ मात्रा मंश इस संप्रत्यय में विश्वास करते हैं । हिंदू, इस्लाम, ईसाई ,जैन, यहूदी आदि शरीर और मन से पृथक रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा को अविनाशी और अनश्वर माना जाता है ।कई पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन शरीर से पृथक रूप में चेतन आत्मा को एक द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं इसे सरल, निरवयव, माना जाता है जो की अविभाज्य, अपरिवर्तनशील , अविनाशी, अमर, अजार अपरिनामी होता है।

18.2 आत्मा की अमरता से संबंधित प्रमुख तर्क

दार्शनिकों द्वारा आत्मा की अमरता से संबंधित दिए गए तर्को से मुख्यत: चार प्रमुख आधारों का निर्माण होता है, जिससे अमरता को सिद्ध किया जाता है-

1. पश्चात दर्शन में तत्वमीमांसीय तर्क के आधार पर अमरता का समर्थन मिलता है, जिसे सर्वप्रथम प्लेटो ने प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार,आत्मा एक अव्यवहीन तत्व है और अवयव से युक्त पदार्थ को ही विनाश युक्त माना जाता है। विनाश का अर्थ है की वस्तु का अपने अवयव में विघटित हो जाना। चूंकि आत्मा एक सरल और अव्यवहीन तत्व है ,इसलिए इसका विभाजन संभव नहीं है। मृत्यु के बाद भौतिक तत्वों से युक्त शरीर विघटित हो जाता है, किंतु आत्मा नष्ट नहीं होती।

मध्ययुगीन दार्शनिक ' एक्विनास ' ने भी इस तर्क के द्वारा आत्मा की अमरता को सिद्ध किया है और कालांतर में यह रोमन कैथोलिक धर्म शास्त्रों में मानक बन गया। कैथोलिक दार्शनिक ' मैरी हांन ' के अनुसार, एक आध्यात्मिक सत्ता को इंगित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह किसी भौतिक या जड़ वस्तु से युक्त नहीं है।आधुनिक पश्चात दार्शनिक डेकार्ट के अनुसार ,दो प्रकार के द्रव्य निरपेक्ष एवं सापेक्ष होते हैं और सापेक्ष द्रव्य चित् अथवा आत्मा , निरपेक्ष द्रव्य ईश्वर के समान शाश्वत है । अर्थात उत्पति विनाश से मुक्त है।

2. कुछ दार्शनिक ईश्वर में निहित नैतिक गुणों के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध करते हैं। ईश्वर में न्याय , दया , प्रेम आदि नैतिक गुण पाए जाते हैं और ईश्वर ने ही हम सब की रचना की है ,उसी ने ही हमारे मन में अमरता की इच्छा भी उत्पन्न की है। न्यायाधीश होने के कारण वह हमारी अमरता की इच्छा अपूर्ण रहने नहीं दे सकता । जिस प्रकार संतान से प्रेम करने वाले माता-पिता स्वयं उसकी हत्या नहीं कर सकते । उसी प्रकार अपने द्वारा रचित आत्माओं का विनाश ईश्वर नहीं कर सकता।

उपर्युक्त धार्मिक तर्क को ' टेलर ' अपनी पुस्तक ' फिलासफी ऑफ़ रिलिजन ' में अत्यंत उपयोगी मानते हैं। उनके अनुसार कालिक एवं तार्किक दृष्टि से ईश्वर विषयक विश्वास की अपेक्षा अमरता संबंधी विश्वास गौण है अर्थात पहले ईश्वर है, उसके बाद अमरता का विश्वास है। इसी क्रम में ' टेलर ' कहते हैं कि ईश्वर विषयक सिद्धांत के अभाव में मानवीय अमरता संबंधी विश्वास के लिए कोई आधार प्राप्त करना असंभव है ; अतः न्याय ,प्रेम ,दया आदि नैतिक गुणों के आधार पर ही आत्मा की अमरता प्रभावित होती है।

3- पाश्चात्य दार्शनिक ' कांट' ने नैतिकता की अनिवार्य मांग के रूप में आत्मा की अमरता के रूप में स्वीकार किया है, जिसमें व्यावहारिक तर्क बुद्धि के मांग के अनुरूप अमरता को मान्यता दी जाती है। उनके अनुसार ' कर्तव्य ' के लिए कर्तव्य का पालन करना ही वास्तविक रूप से नैतिक आचरण है। इस आचरण के फलस्वरुप मनुष्य को समुचित आनंद और परमशुभ प्राप्त होना चाहिए। इस परमशुभ या उच्चतर मूल्य के लिए मृत्यु के पश्चात् जीवन के अंत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति करना इस सीमित जीवन में संभव नहीं है।

इसलिए इस संसार में बार-बार जीवन प्राप्त करना होगा अर्थात आत्मा को अमर मानना ही पड़ेगा। ' कांट' के शब्दों में अमरता से संबंधित मान्यता के आधार पर ही व्यावहारिक दृष्टि से परमशुभ संभव है; परिणामत: नैतिक नियम के साथ अभिन्न रूप से संबंध अमरता विशुद्ध व्यावहारिक तर्क बुद्धि की पूर्व मान्यता है। उल्लेखनीय है कि ' कांट' नैतिकता की तीन पूर्व मान्यताओं - ईश्वर का अस्तित्व - संकल्प की स्वतंत्रता और आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हैं।

4- वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनोविज्ञान की नई शाखा परामनोविज्ञान के अंतर्गत विभिन्न विधियो से आत्मा की अमरता का समर्थन किया गया है। परमनोवैज्ञानिकों के अनुसार मृत व्यक्ति की आत्माओं के साथ संपर्क किया जा सकता है ,ऐसे संपर्क से यही सिद्ध होता है की मृत्यु के पश्चात शरीर का नाश होता है, आत्मा का नहीं। मृत व्यक्तियों की आत्मा के साथ संपर्क स्थापित करने वाले व्यक्तियों ने इन आत्माओं से ऐसी गोपनीय समस्याएं प्राप्त की है जिसका ज्ञान किसी जीवित व्यक्ति को नहीं था। बाद में यह सूचनाये अन्य उपायों से प्रमाणित हुई।

इसके अतरिक्त ' टेलीपैथी' के आधार पर ही आत्मा के संपर्क का दावा किया जाता है। छोटे-छोटे बालकों द्वारा पूर्वजन्म की घटनाओं का वर्णन करना आत्मा की अमरता का समर्थन करता है। इसी क्रम में 'डॉ० सिटीवेंशन' ने अपने तर्क द्वारा पुनर्जन्म सिद्धांत को प्रमाणित करने का प्रयास किया है, साथ ही विज्ञान के शक्तिसंरक्षण नियम के अनुसार ही आत्मा की अमरता के सिद्धांत को बल मिलता है।

5. उपयुक्त तर्कों के अतिरिक्त आत्मा की अमरता को सिद्ध करने में (प्लेटो का सिद्धांत महत्वपूर्ण है,जिसके अनुसार समस्त भौतिक वस्तुएं परिवर्तनशील एवं नश्वर हैं, किंतु दिव्य जगत में विद्यमान उनके भौतिक आकर या द्रव्य कभी भी परिवर्तित या नष्ट नहीं होते। आत्मा का संबंध किसी अभौतिक अपरिवर्तित तथा अनस्वर दिव्य जगत से है ।भौतिक जगत में शरीर के नष्ट होने के पश्चात आत्मा पुन: अपने मूल स्रोत अर्थात दिव्य जगत में प्रवेश कर जाती है। इसलिए आत्मा कभी भी नष्ट नहीं होती। अतः आत्मा अमर है।

18.3 आलोचना

१. आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के प्रयास का विरोध व्यापक स्तर पर मिलता है। प्लेटो ने तत्वमीमांसीय चिंतन के अंतर्गत आत्मा को अवयव रहित सरल द्रव्य बताया है,किंतु उनका सरल द्रव्य अतार्किक एवं अविश्वसनीय है। आधुनिक मनोविज्ञान यहां तक कहता है कि आत्मा एक अवयवयुक्त संरचना वाली इकाई है, जिसका विघटन हो सकता है।

आत्मा की अमरता हेतु ईश्वरवारी तर्क अत्यंत सीमित है। यह केवल उन्हीं विचारको को को मान्य हो सकता है ,जो की नैतिक गुणों से युक्त ईश्वर में विश्वास करते हैं। पुन: ईश्वर का अस्तित्व एक विवादासपक विषय है, जो तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं हो पाया।

२. उल्लेखनीय है कि जेम्स, ' फ्लू ' जैसे दार्शनिकों ने या सिद्ध किया है कि ईश्वर में विश्वास करने की अपेक्षा,अमरता में विश्वास करने वालों की संख्या अधिक है। भारतीय दर्शन में जैन, सांख्य, मीमांसा आत्मा पर विश्वास करते हैं, किंतु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

३. ' कांट ' के अनुसार, परमशुभ की प्राप्ति हेतु नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार करना आवश्यक है, किंतु कांट ने स्वयं माना है कि विशुद्ध तार्किक दृष्टि से इस तर्क को आत्मा की अमरता के लिए प्रमाणित नहीं माना जा सकता। वस्तुत: इस तर्क में नैतिकता की स्थापना एवं संभावना हेतु अमरता को स्वीकार किया गया है, किंतु इस विश्वास की सत्यता तर्कों द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती। पुन: इस तर्क के विरोध में कहा जा सकता है कि हमारे मध्य ऐसे मनुष्य हैं कि जो आत्मा को अमर ना मानने के बावजूद भी नैतिक है।

४. परमनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर अमरता को सिद्ध करने के प्रयास में सर्वाधिक कमी यह है कि परमनोवैज्ञानिक कथनों को सत्यापित या प्रमाणित नहीं किया जा सकता।मृत आत्माओं से संवाद स्थापित करने को वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त नहीं है।आज तक ऐसी वैज्ञानिक विधियां या यंत्रों का

अन्वेषण नहीं किया जा सका है, जिसके द्वारा मृत व्यक्ति की आत्मा के साथ संपर्क स्थापित किया जा सके। पुन: पुनर्जन्म के विभिन्न उदाहरणों की भी प्रमाणिकता संदिग्ध है।

५. ' प्लेटो ' द्वारा प्रस्तुत ज्ञान मीमांसीय युक्ति में पहले से मान लेते हैं की आत्मा अमर है, फिर उसे सिद्ध करते हैं। यह पूर्वाग्रह मात्र है कि आत्मा पूर्वजन्म से प्राप्त ज्ञान को स्मृति के रूप में संचित रखती है।वस्तुतः प्लेटो का प्रत्यय जगत या दिव्य लोक विवाद का विषय रहा है ,जिसका खंडन उनके शिष्य अरस्तू ने ही कर दिया था। अरस्तु के अनुसार दृश्यमान जगत से परे दिव्य लोक की अवधारणा अतार्किक है। प्रत्यय किसी दिव्य लोक में होने के बजाय इसी लोक की वस्तुओं में निहित है।

६. भारतीय चिंतन में कर्म सिद्धांत के आधार पर अमरता को सिद्ध करना अपने तार्किक निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता।इस तथ्य का कोई प्रभाव नहीं है कि व्यक्ति को अपने पूर्व जन्म का फल उस जन्म में मिलता है। बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धांत एवं पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है, किंतु आत्मा की अमरता को मानता नहीं दी गई हैं।

18.4 निष्कर्ष

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है की अमरता के संदर्भ में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिया जा सकता,क्योंकि धर्म दार्शनिक केवल उसी विचार या सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, जिसके समर्थन में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हो। इसलिए अमरता का विचार तार्किक रूप से अस्वीकार है ; तथापि अमरता की प्रासंगिकता इसलिए है कि यह धर्म परायण व्यक्ति के जीवन का मार्गदर्शन एवं नियमन करता है। संसार की कोई भी सभ्यता या संस्कृति नहीं है, जहां यह अवधारणा किसी न किसी रूप में विद्यमान ना हो। अतः अमरता को सार्वभौम ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है।

18.5 अमरता के विरुद्ध तर्क

आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के प्रयासों के साथ-साथ पश्चात दर्शन में आत्मा की अमरता और अस्तित्व के विरुद्ध दार्शनिक अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते रहे हैं। प्राचीन ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रोटस, एपीक्यूरस जैसे दार्शनिकों ने शरीर तथा मन को शाश्वत और अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया है। अनुभववादी ह्यूम ने आत्मा को इंद्रिय संवेदनाओं, संवेगों और मानसिक अनुभूतियों के समुच्य के अतिरिक्त कुछ नहीं माना है।समकालीन पश्चात दर्शन में, एअर आदि तार्किक भाववादियों ने अमरता को निरर्थक एवं आत्मव्याघाती धारण के रूप में व्याख्यायित किया है।

प्रमुख भाषा विश्लेषणवादी पी०टी ० गीच, एंटोनी फ्लयू ने शाब्दिक विश्लेषण के आधार पर आत्मा की अमरता के विचार को निरर्थक सिद्ध किया है कि जिस प्रकार "मर जाना" एवं बच जाना दोनों परस्पर विरोधी शब्द है उसी प्रकार किसी व्यक्ति के संबंध में हम सार्थक रूप से नहीं कह सकते हैं कि वह मर गया है या बच गया।

एंटोनी फ्लयू के अनुसार आत्मा की अमरता वाक्य उतना ही निरर्थक है जितना कि यह कहना है कि वह कुंआरा पति है या त्रिभुज के चार कोण होते हैं।समकालीन दार्शनिक फिलिपींस अपनी पुस्तक ' मृत्यु एवं अमरता' में कहते हैं कि आत्मा कोई भौतिक या अभौतिक द्रव्य नहीं है अपितु यह मनुष्य की धार्मिक चेतना है।

भारतीय दर्शन में कुछ दार्शनिक शरीर से स्वतंत्र चेतन रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार नहीं करते जो कि शरीर के मरणोपरांत जीवित है।

चावर्क के अनुसार शरीर से पृथक आत्मतत्व की सत्ता नहीं है और शरीर के नष्ट होने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार आत्मा शाश्वत ना होकर रूप, वेदना,संस्कार,विज्ञान एवं संज्ञा नामक पंच स्कंधों का संघात है। गौतम बुद्ध शाश्वत आत्मा का खंडन करने के साथ ही पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, किंतु पुनर्जन्म आत्मा का न होकर संस्कारों का होता है। इसलिए आत्मा की अमरता को बौद्ध दर्शन में अस्वीकार किया गया है।

18.6 सारांश

तर्कों के द्वारा आत्मा को असिद्ध करने का प्रयास उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार तर्कों के द्वारा आत्मा की अमरता को सिद्ध किया जाता है। आत्मा की अमरता तर्कों द्वारा ना तो सिद्ध हो सकती है और ना ही असिद्ध।

18.7 बोध- प्रश्न

1. आत्म तत्व से आप क्या समझते हैं? आत्म तत्व क्षणिक है अथवा शाश्वत विवेचना कीजिए।

2. आत्मा की अमरता से संबंधित विभिन्न मतों की समीक्षा कीजिए।

18.8 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

----------00-------

खण्ड–6 धार्मिक सहिष्णुता

इकाई 19

धर्म निरपेक्षतावाद

19.1 उददेश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 अर्थ एवं परिभाषाएं

19.4 डा० राधाकृष्णन का दृष्टिकोण

19.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19.6 धर्मनिरपेक्षतावाद या इहलौकिकता वाद

19.7 भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद

19.8 भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता

19.9 सारांश

19.10 बोध - प्रश्न

19.11 उपयोगी पुस्तकें

----------00----------

19.1 उददेश्य

प्रस्तुत ईकाई धर्म निरपेक्षतावाद' के बारे में विवेचन प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त यह ईकाई यही प्रयास रहा है कि कुछ तर्को अथवा तथ्यों के आधार पर धर्म- निरपेक्षतावाद से सम्बन्धित कुछ प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए इस सिद्धांत के वास्तविक अर्थ तथा स्वरूप को स्पष्ट करना तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करना है। धर्मनिरपेक्षता वाद के स्वरूप तथा इस सिद्धांत के उदय तथा विकास की ऐतिहासिक पृष्टभूमि का विवेचन करने के पश्चात परिशिष्ट के अन्त में इस प्रश्न पर भी विचार किया जायेगा कि भारत वास्तव में धर्मनिरपेक्ष है या नहीं।

19.2 प्रस्तावना

समकालीन धर्म राजनीति तथा समाज में धर्म निरपेक्ष शब्द बहुचर्चित एवं सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। प्राय: लोग इस शब्द के वास्तविक अर्थ को बिना समझे ही इसका प्रयोग करते है। कभी- कभी धर्म निरपेक्षता का अर्थ – धर्म की उपेक्षा, धर्म का खण्डन, धर्म का उन्मूलन धर्म की अवहेलना आदि से किया जाता है। राजनीति में प्रायः धर्मनिरपेक्ष शब्द सम्प्रदायवाद के विपरीत अर्थ में लिया जाता है। प्रायः राजनीतिज्ञ दो खेमें में घंट जाते है Secular and Communal - धर्म निरपेक्ष व साम्प्रदायिक। ये सभी अर्थ उचित नहीं है। इसलिए आवश्यक है कि इस शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयास किया जाय।

19.3 अर्थ एवं परिभाषाएं

Encyclopaedia of Religion and Ethics से धर्मनिरपेक्षता को निम्न प्रकार पारिभाषित किया गया - धर्मनिरपेक्षता वाद राजनीतिक तथा दार्शनिक प्राथमिकता से युक्त ऐसी विचारधारा है, जो उद्देश्य पूर्ण रूप से नैतिक किन्तु धार्मिक रूप से निषेधात्मक है।" Encyclopaedia Britanica गैर आध्यात्मिक धर्म अथवा आध्यात्मिक विषयों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होना, वह जो धर्म से भिन्न हो, उसके विरुद्ध अथवा उससे सम्बन्धित न हो तथा आध्यात्मिक तथा धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक हो"

19.4 डा० राधाकृष्णन का दृष्टिकोण

डा० एस राधा कृष्णन भारतीय धर्म निरपेक्षता के आधिकारिक प्रवक्ता माने जाते है। उनके अनुसार सभी धर्मों के प्रति समभाव रखना ही धर्म निरपेक्षता है। यही भारतीय धर्म निरपेक्षता की सही व्याख्या है। इससे न तो धर्म का विरोध होता है न ही उपेक्षा नही उसे अप्रासंगिक माना जाता है। उसमें राज्य का संचालन किसी धर्म के निर्देशानुसार नहीं होता। राज्य सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करता है। साम्प्रदायिक भेदभाव रहित तटस्थ एवं निष्पक्ष प्रशासनिक दृष्टिकोण भारतीय सन्दर्भ में धर्म निरपेक्षता कहा जा सकता है।

जब भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है तब इसका यह अर्थ नहीं है कि यह धर्म की प्रासंगिकता को अस्वीकार करता है अथवा आधार्मिकता को प्रश्रय देता है। धर्मनिरपेक्षता के द्वारा यह ध्वनित होता है कि भारतीय राज्य किसी धर्म विशेष द्वारा शासित नहीं होगा उस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता एवं तटस्थता का दूसरा नाम धर्म निरपेक्षता वाद भी होगा। 'The National Culture of India' की प्रस्तावना में डा0 आबिद हुसैन ने स्पष्ट किया है कि धर्म निरपेक्षतावाद का अर्थ अधार्मिकता या अनिश्वरवाद का भौतिक सुखों पर बहुत बल देना नहीं है यह आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमिकता पर बल देता है, जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षतावाद धर्म का प्रतिवाद या खण्डन नहीं करता नहीं धर्म की अवहेलना या उपेक्षा करता है। यह मूलता मानवतावादी अवधारणा है जो धर्म के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। धर्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए धर्म निरपेक्षतावाद का उद्देश्य धार्मिक अन्धता, रूढ़िवाद अन्धविश्वास, कट्टरतावाद, सम्प्रदायवाद, तथा धार्मिक शोषण का उन्मूलन करना है।

19.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

धर्मनिरपेक्षता वाद की नींव पंद्रहवीं सदी में ही पड़ गयी थी जबकि । पुनर्जागरण काल में आस्था तथा विश्वास की अपेक्षा तर्कबुद्धि को प्राथमिकता दी जाने लगी। पुनर्जागरण काल से पूर्व सम्पूर्ण यूरोप पर धर्म का वर्चस्व था तथा जन-जीवन का नियमन, संचालन तथा निर्देशन ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुरूप होता था। इस युग में न केवल स्वतन्त्र चिन्तन तथा तर्क को समुचित स्थान न था बल्कि व्यक्ति की गरिमा, विचारों की स्वतन्त्रता समानता आदि आदर्शों एवं मूल्यों को समुचित स्थान नहीं प्राप्त था। सोलहवीं सदी आते आते इन विचारो के विरोध में सुधारवादी युग का प्रतिपादन होने लगा तथा कुछ विचारक विभिन्न अन्धविश्वासों, कट्टरवादिता आदि के खिलाफ आवाज उठाये फलस्वरूप धीरे धीरे धार्मिक उदारता की विचारधारा पल्लवित तथा पुण्पित हुई इस प्रकार पुनर्जागरणकाल तथा सुधारवादी युग में धर्म निरपेक्षता के अभ्युदय के लिए ठोस आधारभूमि तैयार की।

सुधारवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता मार्टिन लूथर किंग ने उदारवादी चिन्तन तथा मानवतावादी दृष्टि को विकसित करने का प्रयास किया। धर्म सापेक्षतावाद के विरुद्ध चुनौती प्रस्तुत करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका आधुनिक युग के महान राजनीतिक दार्शनिक मैकियावेली ने राजसत्ता को धर्मसत्ता से पृथक करके निभाई। इसी क्रम में औद्योगिक क्रांति, मार्क्सवाद, मानवतावाद तथा डार्विन के विकासवाद ने भी धर्म के वर्चस्व को समाप्त करने वैज्ञानिक तथा मानवीय वृत्तियों के प्रचार के साथ धर्मनिरपेक्षता की दिशा में आगे कदम बढ़ाया। यूरोप के अलावा मानवतावाद तथा धर्म निरपेक्षतावाद का प्रभाव धीरे - धीरे ब्रिटेन पर भी पड़ा तथा अनेक विचारको में इस दिशा में आगे काम किये जैसे - जेम्स, जान स्टुअर्ट मिल, बेन्थम, जी. एच. लेविस आदि उपयोगितावादियों तथा सुधारवादियों ने धर्म निरपेक्षतावाद के प्रचार में महत्व पूर्ण योगदान दिया।

उपर्युक्त विचारों तथा विचारकों से प्रेरित होकर इंग्लैंड निवासी जार्ज जैकब हालियोक ने सन 1851 में इस विचारधारा को। धर्मनिरपेक्षतावाद" का नाम दिया। भौतिकवादी, प्रकृतिवादी, एवं इहलौकिकवादी नैतिक अवधारणा को अनिश्वरवाद से पृथक करने के लिए वे धर्म निरपेक्षतावाद का विकास करना चाहते थे। चार्ल्स ब्रैडलाफ ने धर्मनिरपेक्षता की विशेषताओं का और स्पष्टी- करण किया। हालि ओक धर्म के विरोध एवं खण्डन को महत्व देने के बजाय धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण के प्रतिपादन में रुचि रखते थे वही ब्रैडसाज धर्म के खण्डन को इसका प्रमुख आधार बनाया।

धर्म निरपेक्षतावाद की एक विशिष्टता यह बताई जाती है कि यह समस्त अलौकिक, अतीन्द्रिय, अति प्राकृतिक या पारलौकिक शक्तियों अथवा सत्ताओं का निषेध करते हुए केवल इहलौकिकता या सांसारिकता में विश्वास करता है। धर्मनिरपेक्षतावाद की आधारभूत मान्यता है - "इसी संसार तथा मनुष्य के वर्तमान जीवन के विषय में ही विचार करो। दैवी शक्तियों तथा परलोक के सम्बन्ध में नहीं।" इस सिद्धांत के समर्थकों की धारणा है कि विज्ञान की सहायता से तथा अनुभवा तथा तर्कबुद्धि के सहारे मानवता का कल्याण हमारा प्रमुख कर्तव्य है तथा प्राकृतिक नियमों तथा वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग के द्वारा ही मानव प्रगति, भौतिक सुख-सम्पति तथा तकनीकि प्रगति हासिल करनी चाहिए।

इस प्रकार कहा जाता है कि धर्मनिरपेक्षतावाद एक विशेष प्रकार की मानवतावादी जीवन दर्शन है जो धर्म तथा आध्यात्मवाद का निषेध करते हुए नैतिकता, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, कानून आदि को इन दोनों से पूर्णतः स्वतन्त्र मानता है और जो मनुष्य को अलौकिक या दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने के स्थान पर पूर्णतः आत्म निर्भर बनने की प्रेरणा देकर उसके वैयक्तिकता एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म निरपेक्षता की अवधारणा में सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों पक्ष पाये जाते है किन्तु मूलतः यह नकारात्मक प्रवृत्ति की घोतक है। लौकिकता के सन्दर्भ में धर्म की असफलता का बोध इसका मुख्य प्रेरक है। धर्म के प्रति एक इस नकारात्मक दृष्टिकोण को धर्म निरपेक्षता का केन्द्र-बिन्दु माना जा सकता है।सकारात्मक पक्ष में धर्मनिरपेक्षता इहलौकिकता तथा वैधानिकता की पोषक है तथा धार्मिकता से मुक्त प्रकृतिवादी, प्रत्यक्षवादी एवं उपयोगितावादी अभिरुचियों का समर्थन करती है।

19.6 धर्मनिरपेक्षतावाद या इहलौकिकता वाद

(Secularism or this Worldliness)

धर्मनिरपेक्षतावाद को कभी कभी इहलौकिकतावाद के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। इहलौकिकतावाद को धर्मनिरपेक्षकरण को प्रतिक्रिया (Process of Secularisation) का परिणाम माना जाता है। प्रो० फ्लिण्ट ने लिखा है " दोनों सिद्धान्तों में निकटता का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। प्रत्यक्षवाद तथा इहलौकिकतावाद में एक ही सिद्धांत एवं प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है। दोनों सिद्धांतों के ही समष्टि के एक अंगों की तरह परस्पर सम्बन्धित कहे जा सकते है। इहलौकिक दृष्टि वस्तुतः विज्ञान की देन है क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही हमें धार्मिक चमत्कारों में विश्वास अन्धविश्वास तथा रुढ़िवाद से मुक्ति दिलाया है। इसमें बुद्धिवाद तथा आधुनिकतावाद का समर्थन किया गया है तथा उन्हीं मूल्यों के प्रतिपादन पर बल दिया गया है जो बुद्धि पर आधारित है। इस प्रकार इहलौकिकतावाद निम्न विधारों पर आधारित है

1. सांसारिकता को प्रश्रय देना (Be worldly)

2. मानव के सम्बन्ध में चिन्तन करना (Think about man)

3. वैज्ञानिक एवं बौध्दिक दृष्टिकोणों को प्राथमिकता देना।

19.7 भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद .

भारत में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित है। वैदिक मान्यता' एक सद् विप्रा बहुदा वदन्ति से धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा को समर्थन मिला है। बौद्ध एवं जैन परम्पराओं में भी यह धारणा स्वीकार की गयी है । धर्म सम्प्रदाय की अपेक्षा कर्तव्य का घोतक है। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्षता का धर्म से विरोध नहीं व्यक्ति धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी अपने धर्म का पालन कर सकता है। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में धर्म का निषेध न होकर सभी धर्मों के प्रांत समभाव अपनाया जाता है। - यहात्मा गाँधी के अनुसार राष्ट्रीय एकता एवं सामंजस्य के लिए धर्म निरपेक्षता आवश्यक है। इसी के आधार पर धर्म तथा राजनीति की समस्या का समुचित हल संभव है। गांधी को धर्म निरपेक्षता की अवधारणा पाश्चात्य विचारधारा से भिन्न है। गाँधी राज्य तथा धर्म को अपृथक मानते है धर्मविहीन राज्य में दुराचार तथा भ्रष्टाचार पनपने लगते हैं। धर्म निरपेक्षता को सशक्त बनाने के लिए राज्य प्रशासन में धर्म का प्रभाव उपयोगी सिद्ध होता है। इससे न्याय सदाचार एवं शान्ति की स्थापना होती है।

गांधी के मत में धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर सद्भभाव, मैली तथा सामंजस्य स्थापित करना ही धर्म निरपेक्षता हो- है। - यही गांधी के अनुसार धर्म निरपेक्षता का मूल लक्षण है। इसी दृष्टि से वे धर्म-निरपेक्षता के लिए सर्व धर्म समभाव शब्द का प्रयोग करते थे। व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए वे अपने सभी महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का प्रारम्भ धार्मिक प्रार्थना से करते थे। धर्म तथा राजनीति के मिश्रण द्वारा वे करोड़ों भारतीयों को जागरूक बनाने में सफल हुए। परम्परागत धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने सोई हुई जनता में चेतना की लहर फैलाई। शायद गांधी के इस महान योगदान को ध्यान में रखकर जवाहरलाल नेहरू ने कहा था- यद्यपि मुझे गाँधी के 'पाप तथा मुक्ति' को भावा पसन्द नहीं है किन्तु मुझे यह भी ज्ञान है कि जनता की महान शक्ति को कैसे जगाया जा सकता है। उसे गांधी अच्छी तरह जानते थे।

आधुनिक धर्म निरपेक्षतावादी सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक समस्याओं को धर्म से अलग करके देखते है किन्तु गांधी के अनुसार यह एकांगी दृष्टिकोण है। गांधीजी को विश्वास था कि धार्मिकता व सांसारिकता एक दूसरे से अलग नहीं है। आध्यात्मिकला हवं नैतिक मूल्यों से रहित आर्थिक समृद्धि का कोई महत्व नहीं। प्राचीन काल से सभी भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाएं धर्म तथा आध्यात्मिकता से जुड़ी रहती है। सभी भारतीय ऋषियो, मनीबियों ने धर्म तथा समाज को एक साथ रखा। गांधी, विनोवा भावे से लेकर आज अन्नाहजारे भारत में धर्म के सामाजिक महत्व पर बल देते हैं।

19.8 भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता

भारतीय संविधान व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप में किसी भी धर्म को स्वीकार करने को स्वतन्त्रता देता है। भारतीय संविधान के 42 वें संशोधन (1976) में धर्मनिपेक्षता" प्रस्तावना में शब्द जोड़ा गया। संविधान की प्रस्तावना के अतिरिक्त संविधान के अन्य अनुच्छेद भी धर्मनिरपेक्षता की भावना का अभिव्यक्तिकरण करते हैं।

अनु० 15 तथा अनु०16 धार्मिक भेदभाव के उन्मूलन पर बल देता है। अनु०25 में प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता दी गयी है। अनु०-27 में धार्मिक विषयों में व्यक्तिगत सहमति को महत्व दिया गया है। अनु० 23 में राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा देने का निषेध है। उसके अतिरिक्त अनुच्छेद 325, 350 तथा 352 में धर्म के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों को बांटने का निषेध किया गया है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के अतिरिक्त भी भारत के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या भारत धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर सैद्धान्तिक रूप से महत्व हीन होगा क्योंकि जैसा कि उपर उल्लिखित है भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन करते समय हमें यह भी देखना होगा कि हजारों वर्षों से हमारे देश को आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसमें प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के धर्म तथा संस्कृतियों ने न केवल जन्म लिया बल्कि पल्लवित एवं पोषित होती रही साथ ही आज भी भारत उन्ही विभिन्नताओं के खाथ विद्यमान है।

इसके साथ ही धर्म के निषेधात्मक अर्थ का परित्याग करते हुए यदि हम धर्म को सकारात्मक तथा भावात्मक अर्थो में प्रयुक्त करें तो धर्म (हिन्दूधर्म) स्वयं धर्म निरपेक्षता की धारणा को सबलता प्रदान करता है। धर्म हमें

पारस्परिक प्रेम, एकल भाव, समर्पण, त्याग, बन्धुत्य सहिता तथा सौहार्द की भावना उत्पन्न करने में प्रेरणा स्त्रोत बन सकता है) अततः यदि भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद में व्याप्त कुछ विसंगतियों, विरोधाभासों तथा कमियों का निराकरण कर दिया जाय तो यह उदारवादी, समन्वयवादी, सहिष्णुतावादी मानवतावादी रूप में विश्व के अन्य धर्मनिरपेक्षता राज्य में अपना विशिष्ट स्थान रख सकता है।

19.9 सारांश

यह कहा जा सकता है कि धर्म- निरपेक्षता के पालन में यद्यपि कुछ कठिनाइयाँ व्याप्त है फिर भी यह मानव कल्याण तथा प्रगति का उत्तम साधन है। धार्मिक समुदायों में यह सह अस्तित्व के लिए सर्वोपयोगी है। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि जिस राज्य में धर्म- निरपेक्षता का प्रचलन है कहाँ सामाजिक सन्तुलन तथा एकता का विकास होता है। हमारे कुछ पड़ोसी देशों में धर्मनिरपेक्षता की भावना के अभाव के फलस्वरूप आज जो सामाजिक हिंसा-कलह तथा अशान्ति दिखायी पड़ रही है। वह विश्व शान्ति के लिए संकेत बनती जा रही है। यदि धर्म-निरपेक्षता का प्रसार न किया जायेगा तो मानवता अंधकार युग न केवल कभी निकल पायेगी बल्कि अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि में गिरती जायेगी। इसी के फल स्वरूप ही स्वतन्त्र बौद्धिक एवं वैज्ञानिक चिन्तक को बढ़ावा मिला है तथा रुढ़िवादी एवं संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों का ह्रास हुआ है।

19.10 बोध - प्रश्न

1. धर्मनिरपेक्षतावाद से आप क्या समझते हैं?

2. क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है ? विवेचना कीजिए।

19.11 उपयोगी पुस्तकें

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई 20- सर्वधर्म समन्वय

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 परिचय

20.3 सर्वधर्म-समन्वय के लिए चार विकल्प :

20.4 समस्याएं

20.5 सारांश

20.6. बोध प्रश्न

20.7 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

20.0 उद्देश्य -

प्रस्तुत प्रस्तुत इकाई हमें सर्वधर्म समभाव के परिचय , अर्थ तथा आधुनिक युग में उसकी संभावनाओं पर विभिन्न विचारों को के माध्यम से विशद विवेचन प्रस्तुत करती है इसकी अतिरिक्त सर्वधर्म समन्वय के मार्ग में आने वाली समस्याओं या कठिनाइयों के बारे में भी संक्षिप्त उल्लेख करने का प्रयास किया गया है ताकि इस दिशा में हमारा ज्ञान तथा सोच को व्यापक नजरिया मिल सके।

20.1 प्रस्तावना

आज हम एक ऐसे न्यूनतम युग में रह रहे हैं जिसमें विश्व समुदाय की धारणा का अभी अभ्युदय हुआ है अधुनातन प्रौद्योगिकी अनुसंधानो तथा संचार क्रांति में संपूर्ण विश्व को समेट लिया है इस समकालीन युग में धर्म के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है तथा धर्मनिरपेक्षता धार्मिक से सहिष्णुता तथा धार्मिकता एकता जैसे संपर्क सर्वाधिक सुरक्षित एवं प्रासंगिक है आज का विश्व अपनी डफली और अपना राग की धारणा का समर्थन नहीं करता।

इसलिए विश्व कुटुंब वैश्वीकरण सार्वभौमिक धर्म विश्व समाज तथा भारतीय संस्कृति की वस्तुओं का कुटुंबकम् की धारणा ही विश्व में सर्वमान्य तथा धारणा है आज के वैज्ञानिक युग में विकसित बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने धार्मिक मतान्धता धार्मिक संप्रदाय विश्वास धार्मिक अन्धविश्वास तथा धार्मिक अज्ञानता तथा धार्मिक मत मतान्तर के उन्मूलन के लिए मार्ग प्रशस्त किया है आज धर्म के संबंध में एक नवीन तथा व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है वास्तव में देखा जाए तो धर्म दर्शन का एक प्रमुख कार्य है विश्व के सभी प्रचलित धर्म की परस्पर तुलना के आधार पर सभी धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास जिसमें समस्त धार्मिक पूर्वग्रहों धार्मिक पक्षपातो एवं धार्मिक रूढ़िवादित को समाप्त किया जा सके।

20.2 परिचय

सर्व धर्म समन्वय का अभिप्राय है विभिन्न धर्मो के बीच एकता एवं सामंजस्य की स्थापना करना अर्थात विभिन्न धर्म के बीच जो सैद्धांतिक मतभेद है उन्हें दूर करके उनके मध्य एकता एवं परस्पर सामंजस्य की स्थापना करना, परन्तु यह भौतिक वस्तुओं की भांति यांत्रिक न होकर शुद्ध एवं शुद्ध रूप से वैचारिक एवं तार्किक Rational or Logical होती है।

यथार्थ धर्म का यही प्रयोजन भी है रिलिजन शब्द लैटिन भाषा के रिलिजिबल या रिलिजन से बना है जिसका अर्थ ही होता है बांधना इस प्रकार रिलिजन हुआ है जो मनुष्य एवं शरीर के बीच पर संबंध स्थापित करता है तथा विभिन्न समुदायों को परस्पर जोड़ता है स्पष्ट रिलिजन के अंतर्गत मुल्यता दो विशेषताएं परिलक्षित होती हैं

1.लौकिक स्तर पर सामाजिक एवं सामंजस्य की स्थापना करना जैसे की महाभारत का लिखते हैं धर्मों या बाधते धर्म न स कुधर्मतत्

आध्यात्मिक स्तर पर व्यक्ति को परम सत्य प्रदान करना ज्ञान

आज धर्म अपने मूल उद्देश्य से स्वलिखत होकर घृणा एवं द्वेष का बीज ही अधिक बोता जा रहा है इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के नाम पर जितना हिंसा एवं रक्तपात हुआ है उतना किसी चीज के नाम पर नहीं हुआ है इस प्रकार जहां में एक ओर के धर्म ने अपने अनुयायियों के मध्य प्रेम एवं सौहार्द की भावना को विकसित किया है वहीं दूसरी ओर अन्य धार्मिक योग के बीच घृणा एवं विहेब फैलाया जा रहा है स्वामी विवेकानंद अपनी पुस्तक ज्ञान योग

- में तो यहाँ तक लिखते है कि " जितना धर्म ने मनुष्यों के मध्य भ्रातृत्व की भावना को विकसित किया है उतना अन्य किसी ने नहीं किया है। धर्म ने मानव- मानव के बीच जितनी कटुता एवं वैमनस्यता पैदा की है उतना किसी अन्य ने नहीं किया है। धर्म में मनुष्य के लिए धर्मार्थ अस्पताल बनवाये हैं, मनुष्यों तथा पशुओ के लिए आधुनिक अस्पतालों

का निर्माण कराया है तथा धर्म ने ही विश्व को रक्त रंधित भी किया है। अस्तु, यह कहना गलत न होगा कि एक धर्म का विरोधी जितना धर्म है उतना कोई अन्य नहीं हैं।

20.3 सर्वधर्म-समन्वय के लिए चार विकल्प :

समस्या यह है कि यदि धर्म का परम साध्य लोंगो के बीच प्रेम एवं सौहार्द की भावना विकसित करना है तो क्या कारण है कि आज यह अपने उद्देश्य से विचलित होकर कटुता एवं बैमनस्थता का बीज अधिक बोता जा रहा है? क्या ऐसा संभव नहीं है कि विभिन्न धर्मो के बीच अंतव्यप्ति घृणा एवं विद्वेव को न्यूनतम करके उन्हे परस्पर एकता एवं सामंजस्य के सूत्र में बांधा जा सके। यदि इस समस्या पर विस्तार से विचार किया जाय तो इस सन्दर्भ में मूलता चार प्रकार के विकल्प मिलते हैं

1.सभी प्रचलित धर्मो में से किसी एक धर्म को ही सार्वभौम धर्म के रूप में मान्यता प्रदान कर दी जाय।

2.सभी प्रचलित धर्मो के सारतत्तों को लेकर सबसे पृथक अन्य धर्म की स्थापना की जाय।

3.वर्तमान में प्रचलित सभी धर्मों से पृथक एक नूतन धर्म की स्थापना की जाय।

4.अन्तत: धर्मो की सापेक्षता अर्थात धार्मिक, बहुलवाद को ही स्वीकार किया जाय।

1. सभी प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को ही सार्वभौम धर्म के रूप में मान्यता प्रदान कर दी जाय. जहाँतक सभी प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम वर्म के रूप में स्वीकार करने की बात है, उस मत पर विभिन्न धर्मावलम्बियों के मध्य मतैक्य नहीं है। सभी धर्मविलम्बी अपने-अपने धर्म को ही सार्वभौम धर्म के रूप में मान्यता प्रदान करने की बात करते है- यथा - हिन्दू धर्मानुयायी हिन्दू धर्म को, तो ईसाई धर्म के अनुयायी ईसाई धर्म को वही इस्लाम धर्म के अनुयायी इस्लाम को ही सार्वभौमिक धर्म की मान्यता प्रदान करने का आग्रह करते हैं। इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बी भी इस मामले में अपने अपने धर्मो की वकालत करते हैं।

एक तरफ ईसाई धर्म के समर्थक एन० एक एस फरै लिखते है (रीजन इन रिलीजन) में समझता हूँ कि मानव के इतिहास में सार्थकता का सर्वोच्च आगमन जीसस का जीवन, उनका उपदेश, मृत्यु तथा पुर्नजीवन है, मुझे ईसा के अलावा कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नहीं होती जो इस सर्व समावेशी, निरूपाधिक तथा शाश्वत प्रेम की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो जिसका जीसस के जीवन एवं उपदेशों में निश्चित रूप से संकेत मिलता है इसके अतिरिक्त भी अनेक दार्शनिक इस मत का समर्थन करते है पर प्रश्न उठता है कि क्या यह ईसाई धर्म सार्वभौम धर्म हो सकता है?

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त हिन्दू धर्मावलाबी हिन्दू धर्म को हो सार्वभौमिक धर्म के रूप में मान्यता प्रदान करना चाहते हैं। डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन हिन्दू धर्म की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहते है कि हिन्दू धर्म विशेषता अद्वैत वेदान्त ही सार्वभौम धर्म हो सकता है क्योंकि उसी में ही निरपेक्ष सत्र का प्रतिपादन किया गया है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म किसी एक पंथ या एक धर्म ग्रंथ, एक पैगम्बर, या एक धर्म संस्थापक से जुड़ा हुआ नहीं है, अपितु यह चिर नवीन न अनुभवों के आधार पर सत्य की निरंतर खोज है। हिन्दू धर्म ईश्वर के सतत विकास के संबंध में एक मानवीय विचार है।

समस्या यह है कि अगर किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म मान लिया जाय तो यह अन्य धर्मों का निषेध करता है। जिस कारण यह मत अनेक धर्मावलम्बियों के बीच प्रेम एवं सौहार्द की भावना स्थापित करने के स्थान पर उनके मध्य कटुता एवं वैमनस्थता पैदा पैदा जो धार्मिक असहिष्णुता को पैदा करेगा। अस्तु यह मत का सभी प्रचलित धर्म में से एक धर्म को सार्वभौम धर्म बना दिया जाय → सुसंगत प्रतीत नहीं होता।

2. सभी प्रचलित धर्मो के सारतत्वों को लेकर उन सबसे पृथक अन्य धर्म की स्थापना करना , क्या विभिन प्रचलित

धर्मों के सारतत्वों के आधारभूत तत्वों को लेकर एक पृथक धर्म की स्थापना की जा सकती है? इस बल के समर्थकों का कहना है कि सभी धर्मों के आधारभूत तत्व कमोवेश एक ही होते हैं। भेद तो केवल वाह्यता ही होता है। अतः

सभी धर्मों के सार तत्वों के आधार पर एक पृथक धर्म की स्थापना की जा सकती है। इस मान्यता के प्रबल समर्थकों में डा० भगवान दास, डा० राधाकृष्णन, स्वामी विवेकानंद आदि प्रमुख है। डा० भगवानदास अपनी पुस्तक "The Essential Cavity of all Religions" में लिखते है कि सर्व धर्म समभाव की स्थापना किसी विशेष धर्म के आधार पर नही हो सकती है।

- इसके लिए यह अनिवार्य है कि सर्वप्रथम विभिन्न धर्मों के अनिवार्य तत्वों को उनके आकस्मिक तत्वों से पृथक किया जाय तत्पश्चात आवश्यक तत्वों को लेकर सर्वधर्म समभाव की स्थापना की जाए। उसके अनुसार धर्म मनुष्य के लिए अनिवार्य है, परन्तु कोई विशेष धर्म अनिवार्य नहीं है. यहाँ पर हमारे समक्ष केवल दो विकल्प है, या तो सभी धर्मो को अस्वीकार कर दिया जाय या सभी को स्वीकार कर लिया जाया परन्तु ये दोनों विकल्प ही अत्यावहारिक है, अतः केवल व्यावहारिक यहाँ तक की उत्तम एवं अधिक संतोष जनक और वस्तुता विवेकपूर्ण यह है कि अनिवार्य धर्मों के तत्वों को उनके आकस्मिक पक्षों से अलग किया जाए।

समस्या यह उठती है कि विभिन्न धर्मो के अनिवार्य तत्वों का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है? इसके उत्तर में डा० भगवान दास कहते है कि अनिवार्य एवं आधारभूत तत्वों का विर्धारण सर्व सम्मति से होना चाहिए, न कि किसी व्यक्ति की स्वेच्छा से - अर्थात इन आधारभूत तत्वों का सम्बन्ध न तो किसी धर्म विशेष से होता है न ही इन पर किसी जाति विशेष या गुरु विशेष का सर्वाधिकार होता है।

परन्तु विभिन विवेचनाओं के पश्चात भी अगर देखा तो भी विभिन्न धर्मों के सारतत्वों को लेकर एक धर्म की स्थापना का मत अनौचित्यपूर्ण साबित होता है।

3. वर्तमान में प्रचलित सभी धर्मो से पृथक एक नूतन धर्म की स्थापना की जाय

क्या वर्तमान में प्रचलित सभी धर्मो से पृथक एक नूतन धर्म की स्थापना की जाय? इस मत के समर्थकों का कहना है कि क्योंकि किसी धर्म विशेष में किसी व्यक्ति विशेष की आस्था होती है, जिसका परित्याग कर पाना उस व्यक्ति के लिए संभव नहीं है अतः सर्वोत्तम विकल्प यह होगा कि सभी प्रचलित धर्मो से पृथक एक नवीन धर्म की स्थापना की जाय ऐसे किसी धर्म विशेष में कर्मकाण्ड नही होगा बल्कि यह सभी प्रकार के कर्मकाण्डों से पृथक विशुद्ध रूप से केवल मानव कल्याण की भावना पर ही आधारित होगा ऐसे धर्म की मूलताः तीन विशिष्टताएं होंगी-

१. यह सभी प्रकार के कर्म काण्डों से पृथक होगा।

२. इस धर्म का आधार आस्था या विश्वास न होकर विशुद्ध तर्क एवं बौद्धिकता होगी।

३. यह धर्म शुद्ध रूप से मात्र मानवीय कल्याण की भावना पर ही आधारित होगा। इसे व्यापक रूप में मानवतावादी धर्म' कहा जा सकता है।

- यदि ऐसे धर्मो को स्वीकार करने में प्रारम्भ में कुछ कठिनाइयों अवश्य ही आयेंगी क्योंकि यह कर्मकाण्डों से पृथक होने के कारण हमारे स्वभाव के अनुरूप नहीं होगा, परन्तु जब धीरे- धोरे इस पर हमारी एक बार आस्था दृढ़ हो जायेगी तो अन्य धर्मो की ही भांति यह भी हमारे व्यक्तित्व का अंग होगा। इस नूतन धर्म की परिकल्पना मूलताः दो प्रकार के लाभ हो सकते है।

१.एक विशेष धर्म के अनुयायी यह अपेक्षा नहीं कर सकेंगे कि मेरे धर्म को सार्वभौम धर्म बनाया गया जबकि अन्य के धर्म को सार्वभौम धर्म नहीं बनाया गया है। इस प्रकार हम एक दूसरे पर आरोपों एवं प्रत्यारोपों से बच पायेंगे।

२.क्योंकि यह सभी प्रकार के कर्मकाण्डों से असम्पृक्त तथा शुद्ध रूप से बौद्धिक होगा, अतः ऐसे धर्म को सामान्य मनुष्यों के साथ ही साथ बौद्धिक वर्ग भी, जो सामान्यतया लोक प्रचलित धर्मो को अंध विश्वास या रूढ़िवादी कहते हैं, सहजता पूर्वक अंगीकार कर सकता है।

20.4 समस्याएं

यदि इस समाधान को स्वीकार कर लिया जाय तो उससे भी निम्न समस्याएं सामने आयेंगी।

सभी धर्मावलम्बी यही स्वीकार करते है कि उनका धर्म किसी विशेष समुदाय के लोगों तक ही सीमित न होकर सभी मनुष्यों के कल्याण से सम्बन्धित है।

यद्यपि यह सत्य है कि मानवतावादी धर्म बौद्धिक वर्ग की बुद्धि को सन्तुष्ट कर पायेगा, तथापि यह धार्मिक प्रकृति के व्यक्तियों की भावनाओं को सन्तुष्ट करने में सदैव ही असफल रहेगा, क्योंकि धार्मिक व्यक्तियों का हृदय एक दार्शनिक की भांति शुष्क बौद्धिक न होकर एक समर्पित भक्त की भाँति आस्था से परिपूर्ण होता है।

धर्म तो व्यक्तियों की भावनाओं से जुड़ा होता है, जो व्यक्ति के जन्म के साथ ही पुण्यित एवं पल्लवित होता रहता है। अत: उसी धर्म में विहित कर्मकाण्डों के अनुपालन में ही हमें अत्यधिक आत्मा संतोष का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई हमें नूतन धर्म को शिक्षा दे तो हम वाह्य भले ही उसे अंगीकार कर ले परन्तु आन्तरिक रूप से वह हमारे अन्तर्मन को सन्तुष्ट नही कर पायेगा तथा उस प्रकार अन्ततः ऐसे धर्म पर हमारी आस्था नहीं ले सकती है।

20.5 सारांश

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सर्वधर्म समन्वय के मार्ग में अनेक कठिनाइयां है-

परन्तु, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आज हमारे समाज में मनुष्य के सर्वागीण विकास, एवं मानव कल्याण की भावना को प्रोत्साहन दिया जा रहा हैं, उसी के एक साधन के रूप में सर्व- धर्म - समभाव उचित माध्यम है। जिसके बारे में हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी पहले से ही व्यक्त कर चुके है सर्व- धर्म समभाव विश्व बन्धुत्व एवं वसुधैव कुटुम्बकम' की दिशा में उठाया गया एक उल्लेखनीय कदम होगा, जिसमें सभी व्यक्तियों को स्वार्थवादी विचारों से ऊपर उठकर परार्थवादी कल्याण की दिशा में सोचना होगा।

20.6.बोध प्रश्न

1. सर्व धर्म समन्वय से आप क्या समझते हैं?

2 सर्व धर्म समन्वय वर्तमान समय में किस प्रकार संभव हो सकता है उपाय सुझाइए।

20.7 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

1 समकालीन धर्म दर्शन - डॉ याकूब मसीह।

2 धर्म दर्शन की मूल समस्याएं- डॉ वेद प्रकाश वर्मा।

3 धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ शिव भानु सिंह।

----------000----------